



# मुक्तिका मार्ग

(सत्तास्वरूप शास्त्रके ऊपर  
पू. श्री कानजीस्वामीके प्रवचन)



प्रकाशक :  
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट,  
सोनगढ-३६४२५० (सौराष्ट्र)

भगवानश्रीकुंदकुंद-कहान जैन शास्त्रमाला पुष्प नं. १३

ॐ

# मुक्तिका मार्ग

(सत्तास्वरूप शास्त्रके ऊपर  
पू. श्री कानजीस्वामीके प्रवचन)

ॐ

लेखक :

ब्र. हरिलाल जैन,  
सोनगढ

ॐ विद्वानं. ६.

अनुवादक :

पं. परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ (ललितपुर)

ॐ

प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट,  
सोनगढ - ३६४२५० (सौराष्ट्र)

( 2 )

एकसे छ आवृत्ति कुल प्रत : १७८००  
सातवीं आवृत्ति प्रत : १००० वि.सं. २०७१ ई.स. २०१५

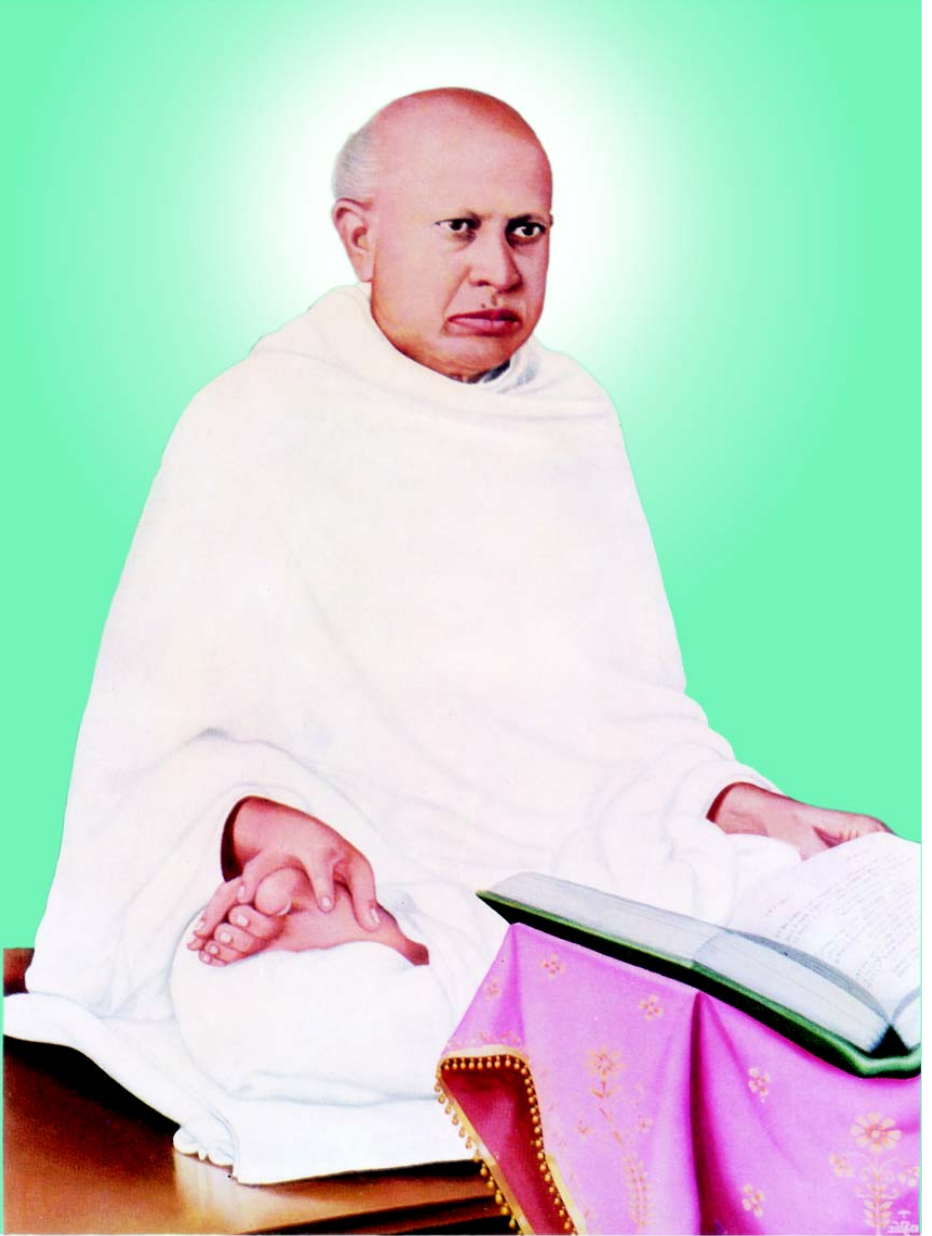
मुक्तिका मार्ग (हिन्दी)के  
\* स्थायी प्रकाशन-पुरस्कर्ता \*  
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी यात्रा संघ  
मुंबई

इस पुस्तकका लागत मूल्य रु. 26=00 है। अनेक मुमुक्षुओंकी आर्थिक सहायतासे इस आवृत्तिकी किमत रु. 20=00 होती है। उनमेंसे स्व. योगेशभाई दामोदरदास मोदी हस्ते शिलाबेन मोदी, अमदावादकी ओरसे 50% आर्थिक सहयोग प्राप्त होनेसे विक्रय-मूल्य रुपये 10=00 रखा गया है।

मूल्य रु. 10=00

मुद्रक :  
स्मृति ऑफसेट  
सोनगढ-(सौराष्ट्र)

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ - 364250



परम पूज्य अध्यात्ममूर्ति सद्गुरुदेव श्री कानगुस्वामी

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

## प्रस्तावना

१—सत्तास्वरूप नामक शास्त्र श्रीमान् पं. भागचन्दजीने हिन्दीमें रचा था, उसका गुजराती अनुवाद इस संस्थाकी ओरसे वीर सं. २४७० की फाल्गुन शुक्ला द्वितीयाको प्रगट हुआ था।

२—इस शास्त्रमें मुख्यतया दो विषय लिये गये हैं। (१) अरहन्तदेवका स्वरूप और (२) सर्वज्ञकी सिद्धि। यह दोनों विषय इस शास्त्रमें बहुत ही स्पष्टतया समझाये गये हैं।

३—कई लोग यों कहते हैं कि 'तत्त्वनिर्णय इस कालमें बिलकुल नहीं हो सकता' किन्तु यह मान्यता एकदम गलत है और तत्त्वनिर्णयरूप धर्म बालक-वृद्ध, रोगी-निरोगी, धनवान-निर्धन, सुक्षेत्री-कुक्षेत्री इत्यादि सभी अवस्थाओंमें और सर्व कालमें प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार इस ग्रन्थमें कहा गया है। साथ ही यह भी बताया गया है कि—जो तत्त्वनिर्णय नहीं करते, उनका समस्त कार्य असत्य है, इसलिए आगमका सेवन, युक्तिका अवलम्बन, परम्परा गुरुओंका उपदेश और अनुभवके द्वारा तत्त्वनिर्णय अवश्य करना चाहिये।

४—सम्यग्दर्शन धर्मकी पहली सीढ़ी है। तत्त्वनिर्णयके बिना वह हो ही नहीं सकता, इसलिए उसे प्राप्त करनेके लिए जीवोंको खास प्रेरणा की है।

५—केवल कुछ-धर्मको लेकर मान्यता करनेसे जीवका गृहीतमिथ्यात्व दूर नहीं हो जाता, भले ही वह मान्यता सच्चे वीतरागदेवकी ही क्यों न हो। और फिर गृहीतमिथ्यात्वके दूर हुए बिना अनादिकालीन अगृहीतमिथ्यात्व दूर नहीं हो सकता, इसलिए गृहीतमिथ्यात्वका स्वरूप और उसे दूर करनेका उपाय उपर्युक्त शास्त्रमें है।

६—जब तक मुमुक्षु जीव संसारकी ओरका अपना राग बदल कर

सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्रको पहचान कर उनकी ओर नहीं ले जाता तब तक उसका गृहीतमिथ्यात्व दूर नहीं होता। इसलिए इस शास्त्रमें यह भी बताया गया है कि मुमुक्षु जीवोंको पहले राग किस दिशामें बदलना चाहिए और ऐसे मुमुक्षुके पहले किस प्रकारका राग होता है। यह भव्य जीवोंको समझनेके लिए पू. कानजीस्वामी द्वारा वीर सं. २४७०में आठ दिन तक दिये हुए इस शास्त्रके पृष्ठ १ से २४ तकके व्याख्यान प्रसिद्ध किये हैं।

### मुमुक्षुओंसे प्रार्थना

७—इन व्याख्यानोंका सूक्ष्म दृष्टिसे अभ्यास करना चाहिए। क्योंकि सच्चे शास्त्रका धर्मबुद्धिके द्वारा अभ्यास करना सो सम्यग्दर्शनका कारण है, इसके अतिरिक्त निम्नलिखित बातोंको ध्यानमें रखनी चाहिए :—

१—पहले सम्यक्त्वोन्मुख जीवका राग संसारकी ओरसे दूर होकर सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्रकी ओर जाता है किन्तु वह उस रागमें धर्म नहीं मानता, धर्मका प्रारम्भ सम्यग्दर्शनसे ही होता है। सम्यग्दर्शन विपरीत अभिप्राय रहित तत्त्वार्थश्रद्धानसे होता है।

२—सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना किसी भी जीवके सच्चे व्रत, सामायिक, प्रतिक्रमण, तप और प्रत्याख्यान इत्यादि नहीं होते, क्योंकि वह क्रिया पहले पांचवें गुणस्थानमें होती है।

३—शुभभाव ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंके होते हैं। किन्तु अज्ञानी यह मानता है कि उससे धर्म होगा और ज्ञानी यह मानता है कि उससे कभी धर्म नहीं हो सकता।

४—इससे यह नहीं समझना चाहिए कि शुभभाव करनेका निषेध किया जा रहा है, किन्तु उस शुभभावको धर्म नहीं मानना चाहिये और न यह मानना चाहिये कि उसके द्वारा क्रम क्रमसे धर्म होगा, क्योंकि

अनन्त वीतरागोंने उसे बंधका ही कारण कहा है।

५—एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता, उसे परिणामा नहीं सकता, प्रेरणा नहीं कर सकता, उस पर कोई असर, मदद या उपकार नहीं कर सकता, लाभ या हानि भी नहीं कर सकता। न वह मार सकता है और न जिला ही सकता है, सुख-दुःख वह नहीं दे सकता, इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्यायकी सम्पूर्ण स्वतंत्रताको अनन्त ज्ञानियोंने पुकार-पुकार कर कहा है।

६—जिनमतमें ऐसी परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व होता है और फिर व्रत होते हैं। उसमेंसे सम्यक्त्व स्वपरका श्रद्धान होने पर होता है और वह श्रद्धान द्रव्यानुयोगके अभ्यास करनेसे होता है, इसलिए पहले द्रव्यानुयोगके अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि होना चाहिए—ऐसा पंडितप्रवर श्री टोडरमलजीने फरमाया है।

७—प्रथम गुणस्थानमें जिज्ञासु जीवोंके सत् शास्त्रका अभ्यास, पठन, मनन, ज्ञानी पुरुषोंके धर्मोपदेशका श्रवण, निरन्तर उनके समागम, जिनपूजा, भक्ति, दान, ब्रह्मचर्य इत्यादि शुभभाव होते हैं किन्तु प्रथम गुणस्थानमें सच्चे व्रत और तप इत्यादि नहीं होते। निमित्त व्यवहार-पुण्यादिका सर्वथा निषेध नहीं किया है किन्तु उसमें मिथ्या अभिप्राय हो उसीका निषेध है।

८—इन व्याख्यानोंमें गृहीत और अगृहीत मिथ्यात्वका तथा दान इत्यादिका जो स्वरूप दर्शाया गया है वह विशेषतः पुनः पुनः पढ़कर विचार करने योग्य है।

फाल्गुन कृष्णा ५  
वीर नि.सं. २४८६

रामजी माणेकचंद दोशी  
प्रमुख—श्री दि० जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट,  
सोनगढ—सौराष्ट्र



## प्रकाशकीय निवेदन

यह मुक्तिका मार्ग (सत्तास्वरूप शास्त्रके ऊपर पूज्य श्री कानजीस्वामीके प्रवचन) बहुत वर्षों पहले प्रकाशित हुआ था। यह सातवाँ संस्करण प्रकाशित करते हुए अति प्रसन्नता अनुभूत हो रही है। यह संस्करण भी पीछले संस्करणके अनुरूप रखा गया है।

परमोपकारी पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी एवं तद्भक्त प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चंपाबहिनके पावन धर्मोपकार प्रतापसे उनकी साधनाभूमि सुवर्णपुरी (सोनगढ)में अनेकविध गतिविधियाँ चल रही हैं।

इस शास्त्रका मुद्रणकार्य कहान मुद्रणालयके मालिक ज्ञानचंदजीने बहुत सुंदर कर दिया है उसके लिये ट्रस्ट उनका आभारी है।

इस ग्रंथके अध्ययनसे मुमुक्षुजीव भवभीरूता सह तत्त्वज्ञानकी गहनता संप्राप्त कर, अपने आत्मार्थको विशेष पुष्ट करे—यही प्रशस्त भावना...

महावीर जयंती और  
पूज्य गुरुदेवश्री  
कानजीस्वामी परिवर्तन दिन  
दि. २-४-२०१५

साहित्यप्रकाशनसमिति

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट,  
सोनगढ (सौराष्ट्र)





## प्रवचनोंकी विषय सूची

प्रवचन पहला :	
तत्त्वनिर्णयकी दुर्लभता -----	1
प्रवचन दूसरा :	
तत्त्वनिर्णय करनेकी प्रेरणा -----	17
प्रवचन तीसरा :	
प्रयोजनभूत तत्त्वोंका दिग्दर्शन -----	32
प्रवचन चौथा :	
रोग और वैद्य दोनोंको पहचानो -----	45
प्रवचन पाँचवाँ :	
सर्वज्ञदेवकी पहचान करनी चाहिए -----	53
प्रवचन छठा :	
अर्हन्तदेवका सच्चा सेवक कैसा होता है? ----	61
प्रवचन सातवाँ :	
सर्वज्ञकी सिद्धि व सच्चे जैनीका कार्य -----	77
प्रवचन आठवाँ :	
मुक्तिमार्गका पथिक जैनी -----	93



\*\*\*

## जिनवरस्वामी व सम्यक्त्व

कालु अणाइ अणाइ जिउ भवसायरु वि अणंतु।  
जीवि विणिण ण पत्ताइं जिणु सामिउ सम्मत्तु॥१४३॥

काल अनादि है, जीव भी अनादि है, भवसागर अनन्त है; इस भवसागरमें निजशुद्धात्मभावनासे च्युत जीवने दो वस्तु कभी नहीं पायी; एक तो परम आराध्य श्री जिनवरस्वामी और दूसरा सम्यक्त्व।

(-परमात्मप्रकाश)



जो जाणइ अरहंतं दव्वत्त गुणत्त पज्जयत्तेहि।  
सो जाणइ अप्पाणं मोहो खलु जाइ तस्स लयं॥८०॥

जो जीव अर्हन्त भगवानके शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्यायको जानता है वह अपने शुद्धात्माको जानता है और उसका मोह अवश्य लय हो जाता है, अर्थात् उसको नियमसे सम्यक्त्व होता है।

—भगवत् कुन्दकुन्द

\*\*\*

ॐ

॥ श्री सर्वज्ञाय नमः ॥

प्रवचन : १  
तत्त्वनिर्णयकी दुर्लभता  
॥ ५ ॥

“ॐ श्री सर्वज्ञाय नमः” इसमें पहले जो ‘ॐ’ है वह तीर्थंकर भगवानकी एकाक्षरी दिव्यध्वनि है। जब पूर्णानन्द दशा प्रकट होती है तब पूर्व पुण्यबन्धके कारण तीर्थंकर भगवानके बिना ही इच्छाके ॐ इस प्रकारकी सहज ध्वनि प्रगट होती है। वहाँ तीर्थंकरकी धर्मसभामें गणधरदेव होते हैं, जो अनेक लब्धिधारी होते हैं, वे गणधरदेव भगवानकी ओम्कारध्वनिको झेलकर शास्त्ररचना करते हैं, इसलिए यहाँ सर्वप्रथम ॐ शब्द रखा गया है। वह वाणी सर्वज्ञ वीतराग अर्हंतदेवके ही होती है।

इस शास्त्रका नाम सत्तास्वरूप है। सत्तास्वरूपका अर्थ है :- जो जैसा है उसका उस प्रकारसे निश्चय करना। सत्ता अर्थात् ‘होना’, जो “है” उसकी चर्चा है। यहाँ सर्वज्ञकी सत्ताकी बात है; मुमुक्षुको सर्वज्ञदेवके स्वरूपका निर्णय करना चाहिये।

**वांथकारका मंगलाचरण**

मंगलमय मंगलकरन, वीतराग विज्ञान।

नमो ताहि जातैं भये, अर्हतादि महान्॥

इस मंगलाचरणमें वीतराग-विज्ञानको नमस्कार किया है, जो

अरहंत, सिद्ध इत्यादि महान हुये हैं वे वीतराग-विज्ञानके कारण हुए हैं। लौकिक कलामें वीतराग-विज्ञान नहीं है। केवलज्ञान व मोक्ष तो वीतराग-विज्ञानसे ही होता है इसलिए वास्तविक आदर तो वीतराग-विज्ञानका ही होता है; इसीसे अरहंत और सिद्ध आदि महान हुए हैं। ध्यान रहे कि यहाँ पर मात्र वीतराग या मात्र विज्ञान नहीं कहा है किंतु 'वीतराग-विज्ञान' इन दोनोंको एकसाथ कहा है। वह वीतराग-विज्ञान कैसा है ? वह स्वयं मंगलमय है, स्वयं मंगलस्वरूप है-यों कहकर पहले तो मांगलिकको अभेदरूपमें ले लिया है। वीतराग-विज्ञानसे स्वरूपकी सम्पदा प्रकट हुई है और पुण्य-पापकी आकुलताका नाश हुआ है, इसलिए वह वीतराग-विज्ञान स्वयं मंगलस्वरूप है।

वीतराग-विज्ञानका अर्थ है सम्यग्ज्ञान। वह स्वयं ही मंगलमय है और मंगलका कारण है। सच्चा ज्ञान-वीतरागीज्ञान-तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान यह सब मंगलस्वरूप है और मंगलका उपाय भी यही है। वह आत्माकी स्वरूप-सम्पदा प्राप्त करनेरूप मंगलका कारण है। इसलिए यहाँ पर शास्त्रकारने शास्त्रके प्रारम्भमें ही उसे नमस्कार किया है। इस वीतराग-विज्ञानके कारण ही अर्हतादि महान हुए हैं। वीतराग-विज्ञानको प्राप्त करके ही पंच परमष्ठियोंने शुद्ध आत्मतत्त्व पाया है।

इस ग्रंथके कर्ता पण्डित श्री भागचन्द्रजी गृहस्थ थे। उन्होंने इस ग्रंथमें गृहीत मिथ्यात्वको छुड़ानेके लिये बहुत ही प्रभावक ढंगसे कथन किया है। शुद्ध जैनसंप्रदाय पाकरके भी बहुतसे जीव सच्चे देव, शास्त्र और गुरुका निर्णय नहीं करते और यदि कोई जीव मात्र सच्चे देव, शास्त्र, गुरुका निर्णय करले किन्तु आत्मतत्त्वका निर्णय

न करे तो उसके शुभभाव होगा, लेकिन धर्म नहीं होगा। और सच्चे देव, शास्त्र, गुरुको पहिचाने बिना और उनकी भक्ति प्रगट हुए बिना आत्माकी पहिचान नहीं हो सकती। इसलिए सबसे पहले सत्तास्वरूपमें देव, शास्त्र, गुरुके सच्चे स्वरूपका वर्णन किया है। इसकी पहचान व बहुमान करना प्रत्येक जैनका कर्तव्य है।

सभी जीव सुख चाहते हैं। जो काम करना चाहते हैं, वह सब सुख प्राप्त करनेकी इच्छासे ही करते हैं। प्रत्येक क्रियासे वे सुख प्राप्त करना चाहते हैं। दूसरेको मारते हैं वह भी सुखके लिए, पर-वस्तुकी चोरी करते हैं वह भी सुखके लिए, झूठ बोलते हैं सो भी सुखके लिए और धन-दौलतका परिग्रह करते हैं सो भी सुखके लिए, इसप्रकार अनेकविध पाप करके भी अज्ञानी जीव सुख प्राप्त करना चाहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि सुख तो सभीको प्यारा है; किन्तु सुखके-सच्चे उपायकी अनादिकालसे खबर नहीं है। सब लोग धर्म सुननेको किसलिए एकत्रित होते हैं ? सभी सुखकी इच्छासे ही आते हैं किंतु सच्चे तत्त्वनिर्णयके बिना सुख नहीं होता; जीवने अनन्तकालमें तत्त्वका यथार्थ निर्णय नहीं किया। यदि तत्त्वनिर्णय हो जाय तो उसमें रमणताका भाव हुए बिना न रहे, और यदि तत्त्वमें रमणता हो जाय तो यह दुःख होवे ही नहीं। इस प्रकार तत्त्वनिर्णय यह सुखकी प्राप्तिका मूल है।

किसीसे यह पूछनेकी आवश्यकता नहीं है कि तुमको सुख प्रिय है या नहीं ? प्राणी प्रत्येक कार्यमें सुखके लिए ही दौड़ता है। स्वर्गके देव या नरकके नारकी, तिर्यच या मनुष्य, त्यागी या गृहस्थ ये सब सुखके लिए ही आतुर रहते हैं, किन्तु यह सुख कैसे मिलता है, क्या यह सुख बाहरसे पैसा इत्यादिमेंसे आता होगा ? नहीं; वह

सुख राग-द्वेषरूप भावकर्मके नाश करने पर प्रगट होता है, भावकर्मके नाश कर देने पर आठों प्रकारके द्रव्यकर्मका नाश हो जाता है। और सब कर्मोंका नाश होने पर स्वतंत्र सुख प्रगट होता है।

सुख बाहरसे नहीं आता किंतु भीतरसे ही प्रकट होता है। बाहर सुख कहाँ ? क्या शरीरके पिंडमें सुख है ? पैसेमें सुख है ? स्त्रीमें सुख है ? सुख है कहाँ ? बाह्यमें तो धूल-जड़ दिखाई देती है। क्या जड़में आत्माका सुख हो सकता है ? कदापि नहीं हो सकता। किंतु अज्ञानी जीवने परवस्तुओंमें सुखकी मिथ्या कल्पना कर रखी है। यद्यपि परवस्तुओंमें सुख नहीं है, कभी परवस्तुमें सुख देखा भी नहीं गया, फिर भी मूढ़ताके कारण वैसी कल्पना करली है। अयथार्थको यथार्थ मान लेनेसे परिभ्रमणका दुःख दूर नहीं हो सकता। अज्ञानीको सुखस्वभावकी खबर नहीं है, इसलिए वह स्वभावसे विरुद्ध भाव कर रहा है और इसलिए आठ कर्मोंका बन्ध होता है, तथा आकुलताका भोग किया करता है। यदि वह स्वभावका भान करले और स्वभावसे विरुद्ध जो राग-द्वेषके भाव हैं उनका नाश करे तो सब कर्म दूर हो जाय और दुःख मिटकर सुख हो जाय।

जो परसे सुख प्राप्त करना चाहता है वह मूढ़ है। यह मानना मूढ़ता है कि जगतमें मेरा आदर हो तो मुझे सुख हो। परके द्वारा मान-अपमानसे कहीं आत्माको शान्ति थोड़ी ही होनेवाली है ? राजा इत्यादिकको बहुतसे आदमी राजदरबारमें खमा खमा (मुजरा देकर) करते हैं, किंतु आँख बन्द (मृत्यु) होने पर उसमेंसे क्या साथमें रहता है ? क्या इसमें सचमुच कही सुख है ? नहीं। सुख तो सर्व कर्मोंके नाशसे पैदा होता है। बाहरमें शक्ति बल लगानेसे वह प्रगट नहीं होता। ताला खोलनेके लिए शक्ति या बलकी आवश्यकता नहीं,

हथोड़ेसे ताला नहीं खुलता किन्तु टूट जाता है और यदि युक्तिपूर्वक चाबी लगाई जाय तो वह सुगमतासे जल्दी खुल जाता है। इसीप्रकार आठ कर्मोंका नाश किये बिना अर्थात् विकारीभावोंका नाश किये बिना बाह्यके प्रयत्नसे सुख प्रगट नहीं होता। “सत्यको समझनेकी क्या आवश्यकता है, शरीरकी खूब क्रिया करो, उससे सुख प्रगट हो जायगा”—इस प्रकारके व्यर्थ बलसे किसीको सुख प्रगट नहीं होगा।

जिसका जो स्वभाव हो उसे यदि वैसा ही समझे तो वह प्रगट होगा। जैसे यदि शिखरजी जाना हो तो शिखरजीका रास्ता जानना पड़ता है; किंतु ‘रास्ता जाननेकी क्या आवश्यकता है? यों ही क्यों न चल दिया जाय’? इस प्रकार शिखरजी नहीं पहुँचा जा सकेगा; मार्ग भूलके दूसरी जगह पहुँच जायगा; यह तो एक दृष्टांत है। इसी प्रकार यदि सुखका उपाय समझ लिया जाय तो सुख प्रगट हो, किंतु सच्चा उपाय जाने बिना व्यर्थके जोरसे सुख प्रगट नहीं होगा। सुख कर्मोंके नाशसे प्रगट होता है। कर्मका नाश चारित्रसे-वीतरागदशासे होता है और चारित्रका अर्थ है अन्तरस्वरूपमें रमणता। यह सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानसे प्रगट होता है, और सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान तत्त्वनिर्णयसे होता है। इसके सिवाय अन्य किसी भी प्रकारसे कभी भी सुख प्रगट नहीं होगा।

यदि कोई पूछे कि चारित्र क्या है? तो कहते हैं कि चारित्र बाह्य वस्तुमें नहीं है, उपकरण या वस्त्रादिमें नहीं है; किंतु आत्मा अनंतगुणोंका पिण्ड है, उसका ज्ञान प्राप्त करके उसमें स्थिर हो जाना वही चारित्र है। वह चारित्र तो मुनिदशामें होता है। पहले, अतिचार रहित आत्माकी श्रद्धा करनेके बाद ही स्वरूपरमणतारूप चारित्र होता

है। आत्मा अनंतगुणोंका निर्मल पिण्ड है। उसकी श्रद्धा और एकाग्रताके बलसे क्षणिक विकारका नाश होता है। किंतु विकार मेरा स्वरूप है, इसप्रकार विकारकी श्रद्धासे विकारका नाश नहीं होता। विकारका नाश करनेके लिए बल कहाँसे आयेगा ? वह बल पर वस्तुमेंसे नहीं आता, विकारमेंसे नहीं आता और अवस्थाके भेदमेंसे भी नहीं आता। किन्तु दर्शन, ज्ञान, आनन्द इत्यादि अनंत गुणोंसे अभेद स्वरूप जो वस्तु है (—जिसमें न तो पर है, न विकार है और न भेद है—) उसमेंसे बल मिलता है। उस वस्तुकी जो श्रद्धा है वह सम्यग्दर्शन है।

यदि कोई पूछे कि सम्यग्दर्शनमें ऐसी क्या बात है कि सबसे पहले उसीकी बात कही जाती है ? तो उसका समाधान करते हुए बताते हैं कि इसका कारण यह है कि सम्यग्दर्शनका विषय सम्पूर्ण वस्तु है और उस वस्तुके बल पर ही चारित्र प्रगट होता है। शुद्ध निर्मल स्वरूपकी श्रद्धाके बलसे चारित्र प्रगट होता है और राग-द्वेषका नाश होता है इसलिए पहले सम्यग्दर्शनकी बात कही गई है। सम्यग्दर्शनके बिना सम्यक् चारित्र नहीं होता।

पहले सम्यग्दर्शन होने पर तथा चारों अनुयोग द्वारा मोक्षमार्गमें प्रयोजनभूत वस्तुओंका यथार्थ ज्ञान होनेपर चारित्र प्रगट होता है। वे चार अनुयोग कौन कौनसे हैं ? यह बताते हैं :—

(१) कथानुयोग (प्रथमानुयोग)—इसमें तीर्थकरादि महान पुरुषोंके पवित्र आचरणकी व्याख्या (जीवनचरित्र) होती है।

(२) चरणानुयोग—इसमें रागको घटानेके और परिणामोंकी शुद्धि बढ़ानेके लिए निमित्तकी प्रधानतासे मोक्षमार्गके आचरणका कथन होता है।



(३) **करणानुयोग**—इसमें परिणामोंकी सूक्ष्म बात गणितके अनुसार होती है। गुणस्थान, मार्गणास्थान तथा त्रिलोकरचना आदिका वर्णन आता है।

(४) **द्रव्यानुयोग**—इसमें जीवादि तत्त्वोंका यथार्थ निर्णय पूर्वक आत्मवस्तुकी व्याख्या मुख्यतासे होती है।

इन चारों अनुयोगोंके द्वारा मोक्षमार्गमें प्रयोजनभूत पदार्थोंका संशय, विपर्यय, अनध्यवसायादि रहित यथार्थज्ञान होने पर यथार्थ चारित्र होता है। यदि कोई प्रयोजनभूत वस्तु अर्थात् मुख्य वस्तुको न समझकर अन्य सब किया करे तो वह यथार्थ नहीं कहलायेगा। प्रयोजनभूत वस्तुको स्वीकार न करके अन्य वस्तुका स्वीकार करनेवाला एक दृष्टांत यहाँ दिया जाता है—

एक व्यापारीकी दुकानसे एक कास्तकारने पाँचसौ—सातसौ रूपयेका माल और कुछ नगद उधार लिया। बहुत समयके बाद वह अपना हिसाब मिलानेके लिए गया। व्यापारीने एकके बाद एक रकम सुनाना शुरू की, कि देखो भाई ! इन दो नारियलोंके चार आना, बराबर है न ? कास्तकारने कहा, हाँ जी बराबर है। इसके बाद कास्तकारने पावभर मिर्च, सवासेर तेल, ढाईसेर चावल और ऐसी ही अनेक छोटी-छोटी वस्तुओंका स्वीकार किया। इसके बाद जब बड़ी रकम आई कि २५०) नगद लिये थे; तब कास्तकारने उस मूल रकमका इन्कार किया कि अरे ! मैंने नकद रकम कब ली थी ? मुझे तो इसकी तनिक भी खबर नहीं है। इस प्रकार कास्तकारने छोटी छोटी वस्तुओंका स्वीकार करके मूल बड़ी रकम उड़ा दी। व्यापारी समझ गया कि यह तो गजब हो गया। इसने तो मूल रकम ही उड़ा दी अब वह ऋणमुक्त कहाँसे होगा ? इसके बाद

जब व्यापारीने उससे आगेका हिसाब सुनाना शुरु किया तो उस काशतकारने पावभर हल्दी और ऐसी ही चार छह छोटी-छोटी रकमें स्वीकार कर ली; किन्तु जब फिर बड़ी रकम आई कि ५००=०० नगद तब काशतकार बोला कि अरे भाई ! मैं तो यह जानता ही नहीं। यहाँ ५००=०० देखे ही किसने ? इस प्रकार उसने मूल रकमको उड़ाकर शेष छोटी छोटी रकमोंको स्वीकार कर लिया। किन्तु यदि उसने मूल रकमको स्वीकार किया होता और छोटी छोटी दो चार रकमोंको उड़ा दिया होता तो वह नफामें भी समा जाती, किन्तु जब उसने मूल रकमको ही उड़ा दिया तब उसका मेल कैसे बैठे ?

इसीप्रकार शास्त्रोंमें अन्यकी भक्ति करनेकी, दया पालनेकी और ऐसी ही दूसरी बातें आती हैं, तो जीव स्वीकार कर लेता है कि हाँ महाराज ! यदि भक्ति वगैरह की जाय तो धर्म होता है; किन्तु अरे भैया ! उसमें धर्म होनेका कहा है किसने ? भक्तिसे धर्म होता है यह किसने कहा ? दूसरेकी दया और भक्तिसे तो पुण्य होता है, इसके बिना नहीं होता। धर्म तो सम्यग्दर्शनादिसे ही होता है, इसके बिना नहीं होता—जब ऐसी मुख्य बात आती है तब कहता है कि यह बात मेरी बुद्धिमें नहीं बैठती। यों कहनेवाला उपर्युक्त दृष्टांतके अनुसार प्रयोजनभूत मूल रकमको उड़ा देता है। अरे भाई ! तू पुण्यकी रकमको कबूल करता है लेकिन तत्त्वका भी तो निर्णय कर, अन्यथा तेरा संसारका कर्ज अदा कैसे होगा ? तू कर्जके भारसे चौरासीके अवताररूपी जैलमें पड़ेगा।

बहुतसे जीव पुण्यकी बातको स्वीकार करते हैं, दयाकी बातको मंजूर करते हैं लेकिन जहाँ मूल रकम आती है कि सच्चे देव, शास्त्र, गुरुका व आत्माका यथार्थ भान हुए बिना धर्म नहीं हो

सकता, वहाँ वे कह देते हैं कि यह बात मेरी बुद्धिमें नहीं जमती। इसलिए यहाँ कहते हैं कि चारों अनुयोगोंके द्वारा मोक्षमार्गमें प्रयोजनभूत तत्त्वका संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय आदिसे रहित यथार्थ ज्ञान होने पर यथार्थ चारित्र होता है और चारित्रदशामें आलस्य, मद इत्यादि दोष दूर होते हैं। आवश्यक रकमका संशय और विपरीतता रहित यथार्थ ज्ञान चाहिए, विपरीत होने पर यथार्थ धर्मका लाभ नहीं हो सकता। इसलिए अनध्यवसाय (अनिर्णय) भी नहीं चल सकता। सच्चामार्ग तो यही है, इसके बिना तीन लोक और तीन कालमें मुक्ति नहीं हो सकती। यदि कोई यों कहे कि यह तो एक ही बात कह रहे हैं, तो भाई ! सत्यका मार्ग तो त्रिकालमें एक ही होता है।

आत्मा निर्मल है और राग-द्वेष क्षणिक है, वह आत्माका स्वरूप नहीं हो सकता; आत्मा परका कुछ नहीं कर सकता। यह सुनकर कोई कहे कि हम तो अपनी आँखोंसे देख रहे हैं कि आत्मा शरीरकी क्रिया करता है, खाता है, बोलता है, चलता है, फिर भी आप इन्कार कैसे करते हो ? उसके उत्तरमें कहा जाता है कि भाई ! तूने अपनी आँखोंसे क्या देखा ? शरीर चला-यह देखा किन्तु शरीर उसके कारणसे चलता है वहाँ तू अपने आप मान बैठा है कि मैंने हिलाया, और फिर तू कहता है कि मैंने अपने आँखोंसे देखा लेकिन यह सत्य नहीं, हाँ ! तूने 'बछड़ेके अण्डे'की तरह अपनी आँखोंसे देखा होगा। जैसे कोई कहे कि मैंने अपनी आँखोंसे देखा है कि अण्डा फटकर उसमेंसे बछड़ा निकला, तो उसकी यह बात प्रत्यक्षमें ही असत्य सिद्ध है क्योंकि बछड़ेका अण्डा होता ही नहीं। उसने तूंबीको अण्डा मान लिया और उसके फूटनेकी आवाजसे पासमें ही एक खरगोशका बच्चा भागता हुआ दिखाई दिया। उसे देखकर मूर्ख

यह मान बैठा कि अण्डेमेंसे बछड़ेको निकलते ही भागता हुआ देखा है। कैसा भ्रम !

इसीप्रकार, शरीरकी क्रिया जो शरीरके कारण होती है और आत्मा उसे जानता है, उसे बाह्यसंयोगकी ओरसे देखनेवाला अज्ञानी— यह मान बैठा है कि यह शरीरकी क्रिया आत्मामेंसे हुई और मैंने उसे अपनी आँखोंसे देखा। लेकिन अरे भाई ! आत्मा परका कुछ कर ही नहीं सकता तो फिर तूने अपनी आँखोंसे कहाँसे देखा ? तेरे देखनेमें गलती है, तू संयोगको देखता है स्वभावको नहीं देखता, अतएव यह बात ठीक न जम जाय कि आत्मा परका कुछ कर ही नहीं सकता तब तक तू तत्सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करनेमें लगा रह। सर्वज्ञकी बातमें अन्तर नहीं पड़ सकता। इसलिए जब तक सर्वज्ञके कथनानुसार तेरे ज्ञानमें बात बैठ न जाय तब तक श्रवण मनन करके ज्ञान प्राप्ति प्रयत्न करता रह। बापदादाके लिखे हुए बहीखातेकी कोई बात यदि समझमें नहीं आती तो कहता है कि पिताजी तो बहुत हुशियार थे; उनकी भूल नहीं हो सकती, मेरी ही गलती होगी। इसप्रकार जबकि बापके बहीखातेमें शंका नहीं करता तब फिर जिनवाणीमें विश्वास क्यों नहीं करता कि परमात्मा सर्वज्ञदेवकी भूल नहीं हो सकती। सर्वज्ञभगवानके कथनानुसार प्रयोजनभूत रकमकी सम्यक् श्रद्धा और सम्यग्ज्ञान होना चाहिए। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही सम्यक्चारित्र होता है और सम्यक्चारित्र होने पर कर्मोंका नाश होता है। कर्मोंका नाश होने पर सर्व जीवोंको प्रिय ऐसा सुख प्रगट होता है, इस प्रकार सम्यग्दर्शन ही सुखकी नींव है।

कोई पूछे कि जिस सच्चे ज्ञानके होने पर आलस्य वगैरह समस्त दोष दूर हो जाते हैं वह सच्चा ज्ञान कैसे होता है ? उसके

समाधानके लिए कहते हैं कि सत् शास्त्रका श्रवण, धारण, विचार और अनुप्रेक्षापूर्वक अभ्यास करना चाहिए। सत् शास्त्र सुननेके साथ धारण होना चाहिए। जीवोंको सच्चा सुख चाहिए है और वह सुख सर्व कर्मोंके नाश होने पर प्रगट होता है। कर्मोंका नाश चारित्र होने पर होता है और चारित्र सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानसे होता है, तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सत्शास्त्रोंके श्रवण, धारण करनेसे होता है।

इसमें धारण करनेकी मुख्यता है। यदि पूछा जाय कि भाई, सबेरे तुमने समयसारकी चर्चामें क्या सुना था तो उत्तर मिलता हे कि याद नहीं रहा, किन्तु ऐसे श्रवणसे काम नहीं चलेगा। संसार-व्यवहारमें यदि किसीसे कुछ ऋण लेना बाकी हो तो वह उसे बराबर याद रखता है, उस कर्जदारको देखते ही याद आ जाता है कि इससे कर्ज लेना बाकी है। जिस प्रकार ऋण सम्बन्धी धारणा बना रखी है उसी प्रकार मुमुक्षु जीव सत् शास्त्रको यथार्थरीत्या धारण करे, और धारण करनेके बाद उसपर विचार करना चाहिए, तत्पश्चात् आमनाय अर्थात् उसे दूसरे आगमोंसे मिलान करना चाहिए; और आत्मा शुद्ध है, आत्मा ज्ञानस्वरूप है, आत्माके गुण इसप्रकार हैं, उसकी निर्मल स्पष्ट ज्योति ऐसी है, इत्याद अनुप्रेक्षापूर्वक बारम्बार चिन्तवन करना चाहिए। शास्त्रसभामें जाकर घन्टे दो घन्टे तक धर्मकी बातें सुनते हैं और फिर घर जाकर विकथाओंमें लग जाते हैं यह अनुप्रेक्षा नहीं कही जा सकती। यहाँ पर धारणा और अनुप्रेक्षा दोनोंका प्रयोग किया गया है, इसमें धारणाका अर्थ वर्तमानमें सुनते समय याद रखना है और अनुप्रेक्षाका अर्थ याद रखी हुई बातको बादमें बारम्बार विचार करना।

समस्त कल्याणका मूल कारण आगमका यथार्थ निर्णय है। भगवानके द्वारा प्ररूपित परमागम शास्त्रोंका मात्र अभ्यास नहीं किन्तु

यथार्थ अभ्यास करना चाहिए। यथार्थ अभ्यासका अर्थ है शास्त्रोंके कथनानुसार ठीक ठीक आशयको समझना। किन्तु अपनी अनुकूलताके अनुसार किसी भी अर्थको बिठा लेना यथार्थ अभ्यास नहीं कहा जा सकता।

अब कहते हैं कि—आगमके यथार्थ अभ्यासका अवसर दुर्लभ है भाई ! इस संसारका परिभ्रमण आजकलका नहीं है किन्तु अनादिकालीन है। इसमें जगतकी वकालत वगैरहका अभ्यास करते करते दम निकल गया, उसमें शास्त्राभ्यासका अवसर मिलना दुर्लभ है। अनादिकालसे तेरा अधिकांश समय तो एकेन्द्रिय पर्यायमें चला गया। त्रसकी स्थिति मात्र दो हजार सागरकी है। एकेन्द्रियके कालको देखते हुए त्रसका काल अत्यन्त अल्प है। मनुष्यपर्याय पाकर भी यदि आत्माका भान नहीं किया तो त्रसपर्यायका समय समाप्त होते ही फिर जीव एकेन्द्रियमें जायगा। एकेन्द्रियपर्यायमें जन्म-मरण करके जीवने अनन्त दुःख पाया है। यह मनुष्यत्व अत्यन्त दुर्लभ है। एकेन्द्रिय पर्यायमें मात्र स्पर्शन इन्द्रियसम्बन्धी किंचित् ज्ञान होता है, वहाँ अनन्त दुःख है। किसी छोटे राजकुंवरको खूब श्रृंगार करके विश्वके किसी सबसे बड़े कारखानेकी अग्निकी भट्टीमें डालकर यदि जीवित जला दिया जाय और उसे उस समय जो पीड़ा हो उससे भी अनन्तगुणी वेदना एकेन्द्रियदशामें प्रत्येक जीव अनन्तबार भोग चुका है।

उसके बाद दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और असैनी पंचेन्द्रिय प्राणियोंको भी तत्त्वविचार करनेकी शक्ति नहीं है। वहाँ पर सुख-दुःखके अनुभव हैं किन्तु विचारकी शक्ति नहीं है। असैनी पंचेन्द्रिय तक तो विचार करनेका अवसर ही नहीं है, वे सब मन

रहित हैं। अब मनवाले प्राणियोंका विचार करें। उनमेंसे नरकगतिमें तो शास्त्राभ्यास होनेका योग ही नहीं है। किसी जीवने पहले सत्समागम किया हो और उसकी वासना कदाचित् रह गई हो तो वहाँ पर किसी जीवको आत्माका अंतरंग विचार हो सकता है, किन्तु वहाँ शास्त्रस्वाध्यायका अवसर तो मिल ही नहीं सकता। देवगतिमें जो नीची जातिके देव हैं वे तो बहुधा विषयसामग्रीमें ही अत्यन्त आसक्त रहते हैं। वे उसमें इस प्रकार लीन हैं कि उन्हें धर्मवासना ही नहीं होती, इसलिए उन्हें भी शास्त्राभ्यासका अवसर प्राप्त नहीं है। उच्चपदवाले देवोंमेंसे किसी किसीके धर्मकी विचारणा होती है, किन्तु विशेषतया उनने मनुष्यभवमें शास्त्राभ्यास आदि किया होता है। उस मनुष्यभवमें की गई धर्मसाधनाकी योग्यतासे उच्च पदवाले देव होते हैं।

असंख्यात जीवोंमेंसे कोई जीव बड़ा देव होता है उसे ऐसा लगता है कि अरेरे ! मनुष्यभवमें मेरी साधना अधूरी रह गई इसलिए यह अवतार हुआ; इसप्रकार उसके धर्मवासना उत्पन्न होती है। विशेषतया तो मनुष्यभवमें ही धर्मसंस्कार प्राप्त होता है। वहाँ पर 'विशेषतया' शब्दका प्रयोग किया गया है, क्योंकि तीर्थंकरकी सभामें कोई पशु वगैरह भी धर्मोपदेश सुनकर आत्मज्ञान कर लेता है; किन्तु उसकी यहाँ मुख्यता नहीं है, इसलिए 'विशेषतया मनुष्यभवमें'—इस प्रकारका भाषाप्रयोग किया गया है।

मनुष्यपर्यायमें भी अनेक जीवोंकी आयु अत्यन्त अल्प होती है, उन जीवोंके पर्याप्तिकी पूर्णता ही नहीं होती, शरीरकी रचना ही पूर्ण नहीं हो पाती, वे माताके उदरमें ही मर जाते हैं। जिनके आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इन छह प्रकारकी

पर्याप्तियोंकी पूर्णता नहीं है ऐसे जीवोंको सत् शास्त्र सुननेका योग नहीं मिलता। और कदाचित् छह पर्याप्तियोंकी पूर्णता हो जाय, किन्तु वे अल्पायु हों तो वे बाल्य अवस्थामें ही मर जाते हैं। कदाचित् अधिक आयु मिली तो शुद्र इत्यादिक नीच कुलमें जन्म हुआ और यदि अच्छा कुल मिला तो इन्द्रियोंकी पूर्णता दुर्लभ हो गई, इन्द्रियोंकी पूर्णता हुई तो निरोग शरीर मिलना दुर्लभ है, और यदि वह भी मिल गया तो जहाँ सत् शास्त्र आदिकका योग है, उस ग्राममें जन्म होना दुर्लभ है, और यदि ऐसे स्थानमें जन्म हुआ तो भी जीवके धर्मवासना उत्पन्न होना दुर्लभ है। और यदि किसी जीवके धर्मवासना उत्पन्न हुई तो वहाँ भी सच्चे देव, गुरुका समागम पाना दुर्लभ है। यदि कुदेव, कुगुरुके समागममें लग गया तो मनुष्यभव ही बर्बाद हो जायगा, सच्चे देव-गुरुका समागम मिलना महान् दुर्लभ है। यदि दैवयोगसे किसीको सच्चे देव-गुरुका योग भी मिल गया तो वह पुण्यकी बाह्य क्रियामें लग गया, वह यह मान बैठता है कि अनेकविध पुण्यकी क्रियाके शुभरागसे ही धर्म होगा; इस प्रकार वह व्यवहारधर्ममें रत हो जाता है। सच्चेदेव-गुरुका संयोग प्राप्त करके भी अनेक जीव सच्चा तत्त्वनिर्णय न करके शुभरागकी बाह्य क्रियाओंमें लगे रहते हैं और उसीमें धर्म मान बैठते हैं; इसप्रकार तत्त्व एक तरफ रह जाता है।

शास्त्रमें पाप करनेकी बात तो हो ही नहीं सकती, किन्तु अशुभभावको छुड़ानेके लिए शुभभावका कथन आता है, वहाँ यह जीव शुभमें ही संतोष मानकर उसको ही पकड़ बैठता है। किन्तु तत्त्वका यथार्थ निर्णय किये बिना जन्म-मरणका अन्त नहीं हो सकता। कोई जीव तत्त्वका निर्णय तो करे नहीं और व्यवहारकी



वासनासे उसे फुरसत न मिले तो ऐसे धर्म नहीं होता। वह यह कहे कि इस धर्मचर्चाको समझनेका काम क्या है? हमें समझ समझके आखिर करना तो यही है न? किन्तु भाई, करना तो अन्तरंगमें कुछ और ही है। पहले तू वस्तुको तो समझ। वस्तुतत्त्वको समझ लेनेके बाद मालूम होगा कि तुझे क्या करना है।

कोई यह कहे कि केवली होने पर ही यह समझा जा सकता है, अभी हम यह कैसे समझ सकते हैं? अभी तो मात्र क्रिया करना है। यों माननेवाला कभी केवली तो नहीं होगा किन्तु तत्त्वकी अरुचिसे केवल एक इन्द्रियवाला (निगोदिया) हो जायगा। व्यवहारधर्मका अर्थ क्या है? यही कि मात्र वर्तमानमें रागका मन्द भाव, उससे आत्माके जन्ममरणका अन्त नहीं हो सकता। कदाचित् किसी जीवको सच्चे देव-गुरुका संयोग मिल जाय और पूजा, दान, शील, व्रत, संयम इत्यादि व्यवहारधर्मकी वासना उत्पन्न भले ही हो जाय; किन्तु जिससे अनादिकालीन मिथ्यात्वरोग दूर होता है, विपरीत मान्यतारूपी क्षयरोग नष्ट होता है, ऐसे कारणोंका (सम्यग्दर्शनादिकका) मिलना तो उत्तरोत्तर महा दुर्लभ है। इस हीन कालमें जैनधर्मका यथार्थ ज्ञान और श्रद्धानपूर्वक चारित्रधर्म बहुत कठिन है, जब कि यह बात है तब जीवोंको क्या करना चाहिए? सो कहते हैं।

तत्त्वका निर्णय करना भी एक धर्म है और उसका फल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। जैनधर्मानुसार यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान-चारित्रका होना दुर्लभ है, फिर भी तत्त्वनिर्णयरूप धर्म तो बालक भी कर सकता है, आठ वर्षकी बालिका हो या कोई वृद्ध पुरुष, प्रत्येक तत्त्वनिर्णय कर सकता है। वृद्ध तो शरीर होता है; शरीरके वृद्ध होनेसे

आत्मामेंसे तत्त्वनिर्णय करनेकी शक्ति नहीं चली जाती। बाल, वृद्ध, रोगी, निरोगी, धनवान, निर्धन, सुक्षेत्री-कुक्षेत्री कोई भी जीव यदि चाहे तो तत्त्वनिर्णय कर सकता है। तत्त्वनिर्णय भी धर्म है। धर्ममें रोटीके साधनकी आवश्यकता नहीं होती, यदि रोटीकी परिपूर्णता होनेपर ही धर्म होता हो तब तो धर्म पराधीन बन जायेगा, धर्मका ऐसा स्वरूप नहीं है। चाहे जो व्यक्ति, धर्मका निर्णय कर सकता है। सुक्षेत्र या कुक्षेत्र इत्यादि किसी भी परिस्थितमें तत्त्वनिर्णय प्राप्त किया जा सकता है।

इस प्रकार यहाँ यह बताया गया है कि किसके तत्त्वनिर्णय हो सकता है और किसके नहीं। अब आगे यह बताया जायगा कि जिसके तत्त्वनिर्णय हो सकता है उसे तत्त्वनिर्णय करनेके लिए क्या करना चाहिए।

ॐ  
—◆—  
महेश्वर विद्यानंद.

प्रवचन : २  
तत्त्वनिर्णय करनेकी प्रेरणा  
卐

‘जो पुरुष अपने हितका वांछक है उसे सर्व प्रथम यह तत्त्व निर्णयरूप कार्य ही करना चाहिए।’ यह आत्मा अनादिकालसे संसार परिभ्रमण कर रहा है, उसमें उसने इस तत्त्वका यथार्थ निर्णय एक क्षणभरके लिए भी नहीं किया कि वीतराग भगवान क्या कहते हैं। तत्त्वका स्वरूप समझे बिना यह जीव अन्नतबार पूजा, दान, शील और महाव्रत इत्यादि कर चुका है। किन्तु सच्ची समझके बिना इसे अभी-तक यथार्थ सुख प्राप्त नहीं हुआ और परिभ्रमणका दुःख दूर नहीं हुआ।

सुख तो प्रत्येक जीवको प्रिय है किन्तु कर्मका नाश हुए बिना सुख प्रगट नहीं होता, वीतरागताके बिना कर्मका नाश नहीं होता, चारित्रके बिना वीतरागता नहीं होती, सम्यग्दर्शन-ज्ञानके बिना चारित्र नहीं होता, तत्त्वका निर्णय हुए बिना सम्यग्दर्शन-ज्ञान नहीं होता और सर्वज्ञकथित आगमके ज्ञानके बिना तत्त्वका निर्णय नहीं होता। उस तत्त्व-निर्णयरूप आगमका ज्ञान करनेकी योग्यता एक इन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तकके जीवोंमें नहीं है। क्योंकि उनके तत्त्व-विचारकी ही शक्ति नहीं है। मनुष्यभवमें भी यथार्थ श्रद्धानादि होना कठिन है। श्रद्धानादिका अर्थ है सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र, इन तीनोंका होना कठिन है; तो भी सम्यक्भान आठ वर्षका बालक या रोगी-निरोगी सभी मनुष्य कर सकते हैं यह बात कही जा चुकी है। सुखकी चाहनावाले जीवोंको यही कार्य करना चाहिए।

वीतरागदेवने क्या कहा है इस तत्त्वका निर्णय किये बिना जीव

मुक्ति मार्गसे उल्टे मार्गमें दौड़ लगा रहा है। वह इस बातका निर्णय नहीं करता कि उसने स्वयं क्या माना है और जिसे वह गुरु मान रहा है वे क्या कहते हैं और वीतरागका मार्ग क्या है? वीतरागका मार्ग तो त्रिकालमें एक ही होता है। सर्वज्ञ वीतराग द्वारा कहे गये तत्त्वनिर्णयके बिना कदाचित् दया-दानादिकमें कषायको मन्द करे तो शुभभावका पुण्य भले बांध ले, किन्तु उसमें धर्म तो किंचित् मात्र नहीं होगा। जैसा वीतराग भगवानने कहा है उसे समझकर उसमें स्थिर होना यही एक ही प्रकारका धर्ममार्ग है, इसलिए सर्व प्रथम तत्त्वनिर्णयरूप सम्यग्दर्शन प्राप्त करना ही योग्य है। इस जीवने सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना सेवा की, अनुकम्पा की और करोड़ों रूपया दानमें दिये किन्तु वह यह नहीं समझ पाया कि आत्माका स्वरूप क्या है। भगवानके नाम पर बड़े-बड़े दान दिये किन्तु वह यह नहीं समझ सका कि भगवानने क्या कहा है? इसलिए उसे धर्म नहीं प्राप्त हुआ। धर्मका मार्ग अपूर्व है, उसे यह जीव पहले कभी नहीं समझा। करोड़ोंमें कोई एकाध जीव ही सम्यग्दृष्टि होता है, किन्तु जो जो तत्त्वनिर्णय करना चाहें वे सब निर्णय कर सकते हैं। और यह तत्त्वनिर्णय करनेसे ही मुक्तिका मार्ग हाथ लगेगा।

शरीरकी क्रिया अथवा रूपया पैसा वगैरहसे धर्म तो क्या, किन्तु पुण्य भी नहीं होता। रूपये पैसे की यदि तृष्णा घटाई जाय तो पुण्य होता है किन्तु धर्म नहीं होता, जन्म-मरणका अन्त नहीं होता। सच्चे देव, शास्त्र और गुरुके निर्णयके बिना और भगवान आत्माका अर्थात् अपना स्वरूप क्या है इसका निर्णय हुए बिना तीनकाल और तीनलोकमें न तो किसी जीवकी मुक्ति हुई है, न होती है और न होगी। इसलिए जो जीव अपना हित करना चाहता है उसे सर्वप्रथम यह तत्त्वनिर्णयरूप कार्य करना चाहिए।

अब यहाँ कहते हैं कि तत्त्वनिर्णय करनेमें कोई हानि नहीं है :—

न क्लेशो न धनव्ययो न गमनं देशान्तरे प्रार्थना  
केषांचिन्न बलक्षयो न न भयं पीडा परस्यापि न।  
सावद्यं न न रोग जन्मपतनं नैवान्य सेवा न हि  
चिद्रूपस्मरणे फलं बहु कथं तन्नाद्रिंयंते बुधाः॥१॥

(तत्त्वज्ञानतरंगिणी अध्याय ४)

इस देहरूपी देवालयमें चिदानन्द स्वरूप भगवान आत्मा सिद्धसमान चैतन्यमूर्ति है; उस आत्माके निर्णय करनेमें स्मरण करनेमें क्लेश नहीं होता, धनकी आवश्यकता नहीं होती और धन खर्च नहीं करना पड़ता। इसका अर्थ यह नहीं समझ लेना चाहिए कि धनकी तीव्र तृष्णा रखकर आत्माका निर्णय हो जायगा। धनकी तृष्णाको तो पात्र जीव कम करता ही है। देव-गुरु-शास्त्रकी प्रभावना-पूजनादि सत्कार्योंमें वह अपनी लक्ष्मीको लगाता है। किन्तु धनकी तृष्णा कम करनेसे पुण्य होता है, धर्म नहीं। आत्माको पहिचाननेके लिए धनका खर्च नहीं करना पड़ता, अर्थात् धनका खर्च करनेसे आत्माकी पहिचान नहीं होती; वह तो तत्त्वनिर्णयसे ही होती है।

पैसा खर्च करके धर्म माननेवालेसे कहते हैं कि भाई ! धन खर्च करके उसमें धर्म मनवानेवाले कुगुरु तो तुझे अनन्तबार मिले और तूने भी उसमें धर्म मान लिया किन्तु उसमें धर्मका होना अशक्य है। आत्माको पहिचाने बिना किसीको भी तीनकाल और तीन लोकमें धर्म नहीं हो सकता। आत्माको पहिचाननेके लिए न तो देशान्तर जाना पड़ता है और न किसीकी प्रार्थना भी करनी होती है।

प्रश्न :—भगवानकी प्रार्थना भक्ति तो करना चाहिए न ?

उत्तर :—मुमुक्षुको वीतराग भगवानका बहुमान आता है और प्रार्थना-पूजा करता है; उसमें पुण्य है। किन्तु तीर्थंकर भी किसीको मोक्ष नहीं दे सकते। भगवानका बल भगवानके पास होता है वह किसी दूसरोंको काम नहीं आ सकता। भगवानने सत्यमार्ग बताया है, जो जीव उसे समझ लेता है उसकी मुक्ति होती है। जो सच्चे मार्गको समझता है उसको निमित्तरूप भगवानके प्रति बहुमान होता है—किन्तु भगवान किसीको समझा नहीं देते। जीव अपनी योग्यताके बलसे ही समझता है। और आत्माका निर्णय करनेमें शक्तिका क्षय नहीं होता, प्रत्युत आत्माकी पहिचानसे तो गुणकी वृद्धि होती है, निर्मल दशा प्रगट होती है। और वह सावद्य नहीं है अर्थात् आत्माकी पहिचान करनेमें किसीकी हिंसा नहीं होती, और उसमें न तो रोग है और न जन्म-मरण। आत्मस्वरूपकी पहिचान करनेके लिए किसीसे दीनता भी नहीं करनी पड़ती; इस प्रकार आत्माकी पहिचान करनेमें कोई कठिनाई नहीं है और उसकी पहिचान करनेका बहुत बड़ा फल है। तब फिर हे सयाने पुरुषों ! उसे क्यों नहीं स्वीकार करते ? उसको आदरपूर्वक क्यों नहीं अंगीकार करते हो ?

परसे बिलकुल भिन्न भगवान आत्मा अनन्त गुणोंसे युक्त बिराज रहा है किन्तु उसको अपनी पहिचान अनन्तकालसे नहीं है। उसकी पहिचान करनेका बहुत बड़ा फल है, तब फिर बुद्धिमान पुरुष ऐसे तत्त्वज्ञानका उद्यम क्यों नहीं करते ? इस जीवने अनन्तकालमें सत्समागमसे आत्मतत्त्वकी रुचि ही नहीं की। इसलिए इसकी प्रेरणा करते हैं। ऐसा नहीं कि जगतमें सबकी सेवा करनेसे और सबको अच्छा मनानेसे धर्म हो जायगा। जो समस्त धर्मोंको एक मानकर जैनधर्मका अन्य धर्मोंके साथ समन्वय करना चाहते हैं उसको वीतरागदेवके कहे हुए तत्त्वका निर्णय ही नहीं है। क्या

अमृतके साथ विषका समन्वय हो सकता है ? कभी नहीं। जो तत्त्वनिर्णय नहीं करता उसको आत्माका कल्याण कभी नहीं हो सकता और उसका परिभ्रमण नहीं मिटता। इसलिए जो तत्त्वनिर्णयका अवसर पाकरके भी तत्त्वनिर्णय नहीं करता, उसे उलाहना देते हुए कहते हैं कि—

साहीणे गुरुजोगे जे ण सुणंतीह धम्मवयणाई।  
ते धिदु दुदुचित्ता अह सुहडा भवभयविहूणा॥

जिसको सत्समागम-सद्गुरुओंका योग मिलता है फिर भी जो धर्मवचनोंको नहीं सुनते, तत्त्वनिर्णय नहीं करते वे दुष्ट और ढीठ मनवाले मूर्ख हैं। अरे जीव ! अनन्तकालमें यह नरभव मिला, फिर भी चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्माकी पहिचान नहीं करता, तब तेरा अवतार कहाँ होगा ? तुझे कहाँ शरण मिलेगी ? जो यह निर्णय नहीं करता कि आत्मा देह, मन और वाणीसे भिन्न है और सत्समागम मिलने पर जिसे सुननेकी भी फुरसत नहीं मिलती वह दुर्बुद्धि है, उसको अपनी ही दरकार नहीं है। जो भगवानके मार्गको नहीं समझते वे भवभयसे रहित सुभट हैं। त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवान भी संसारसे भयभीत हुए और स्व-स्वरूपका भान करके संसारसे दूर सुदूर भागे; जिस संसारसे भगवान भी डरे उस संसारके भयसे न डरनेवालेको बड़ा सुभट कह करके शास्त्रकारने उपहास किया है।

जो वीतरागदेव उसी भवसे मोक्ष जानेवाले हैं किन्तु अभी राजपाटमें लगे हुए हैं, उन्हें वहाँ यह भान तो है कि यह राग मेरा स्वरूप नहीं, फिर भी वे विचार करते हैं कि अहो ! जबतक स्वरूपमें स्थिर हो करके मैं इस रागको नहीं छोड़ूँगा तब तक वीतरागता नहीं आयेगी। यों विचार करके वे भी संसारसे (रागद्वेषसे)

हट गये और स्वरूपमें स्थिर हो गये—स्वरूपमें समा गये। जिन्हें इस संसारसे भय नहीं लगता वे विपरीततामें महा सुभट हैं; वे संसारकी होली जलानेके लिए हमेशा तैयार रहते हैं, किन्तु तत्त्वज्ञानका अभ्यास नहीं करते। लौकिक पढ़ाईमें तो कई वर्ष व्यतीत कर देते हैं किन्तु आत्माको समझे बिना वह पढ़ाई किस कामकी ? आत्माकी पढ़ाईके सिवाय अन्य विद्या वास्तवमें विद्या ही नहीं है। आत्माकी पहिचानके बिना सारा समय दूसरोंकी पंचायतमें और रागद्वेषरूप होलीमें ही चला गया, किन्तु जीव यह निर्णय नहीं करता कि वीतराग भगवानने क्या कहा है ? अरे जीव ! आत्माकी पहिचानके बिना तू मरकर कहाँ जायगा ? ज्ञानी व्यवहारधर्ममें लीन नहीं होता, स्वरूपकी अस्थिरता है इसलिए दया-व्रत-पूजा इत्यादिके शुभभाव आ जाते हैं। जो आत्माकी दरकार नहीं करते और वकालत, व्यापार, खान-पान इत्यादिमें लगा रहता है वह 'अशुभोपयोगी मिथ्यादृष्टि' है। वह दो प्रकारसे पापी है, एक तो विषय कषायादिके अशुभभावका पाप और दूसरा बड़ा पाप मिथ्यात्वका।

यदि कोई जीव सम्यग्दर्शनके बिना व्रत, तप, भगवानकी भक्ति, पूजा, दान, साधर्मीवात्सल्य इत्यादि किया करे तो उसमें पुण्य है, धर्म नहीं। यदि पूजा दान इत्यादिमें रागको घटाये तो पुण्य होगा, किन्तु धर्म नहीं होगा। उससे जन्म-मरणका अंत नहीं होगा, भवका नाश नहीं होगा, वह पंचमगुणस्थानी श्रावक नहीं कहलायेगा; आत्मभानके बिना व्रत, तप, पूजा, भक्ति सब कुछ करे तो भी वह मोक्षमार्ग नहीं है, परमार्थ जैन वह नहीं है।

प्रश्न :—अरे ! उसे जैनमेंसे भी अलग कर दिया ?

उत्तर :—जैन तो उसे कहते हैं जो सम्यक्त्वादि द्वारा



मिथ्यात्वादि मोह शत्रुको जीतें; अथवा जिनदेवके कहे हुए मार्गकी जो सम्यक् उपासना करे वही सच्चा जैन है। यह जैनमेंसे अलग करनेकी बात नहीं है किन्तु अजैनमेंसे सच्चा जैन बनानेकी बात है।

जो पहले कहा है वह अशुभोपयोगी मिथ्यादृष्टि है और दूसरा शुभोपयोगी मिथ्यादृष्टि। वह व्रत करता है, उपवास करता है, भगवान व मुनिवरोंकी पूजा-भक्ति करता है, दान करता है—इन सब कार्योंमें मन्द राग करके पुण्य बन्ध करता है; किन्तु 'मैं कौन हूँ' इस वस्तुका निर्णय नहीं करता, और आत्माके निर्णयके बिना व्रत, तप, संयम नियम इत्यादि अनेक प्रकारकी शुभभावकी क्रियाको ही धर्म समझ बैठता है। वह पुण्यमें मग्न है—व्यवहारमें लीन है, उसे भगवानने धर्मी नहीं कहा है।

प्रश्न :—आप तो ऐसी बात कहते हैं जिससे झगड़ा खड़ा हो जाय ?

उत्तर :—यह ऐसी बात नहीं है जिसमें झगड़ा खड़ा हो जाय किन्तु यह तो झगड़े टालनेकी बात है। यदि कोई इस बातको समझ ले तो एक भी झगड़ा न रहे। झगड़ा तो अनसमझसे होता है। सच्ची समझमें कोई झगड़ा नहीं है।

जिसे सारा संसार माने वही मार्ग सच्चा हो ऐसा नियम नहीं है; किन्तु वीतरागदेवने जो मार्ग कहा है इसे यथार्थ समझ लेना ही सच्चा मार्ग है। आत्माको पहिचाने बिना यदि कोई व्रत, तप, दान, इत्यादि शुभराग करे ओर उसमें धर्म माने ते उसके शुभभावके साथ मिथ्यात्व भी है। धर्म उसको नहीं है।

भगवान आत्मा देह, मन, वाणीकी क्रियासे रहित, चिदानन्दस्वरूप है, परका अकर्ता है, पुण्य-पाप उसका स्वरूप नहीं

है; ऐसे आत्माके भान बिना जो व्यवहारधर्मक्रियामें-शुभक्रियामें लीन है वह भगवानके मार्गको नहीं जानता। उसके परिणाममें वर्तमान कुछ शुभभाव है, किन्तु शुभभाव करते करते मिथ्यादृष्टिपना तीनकालमें भी नहीं टल सकता। प्रत्युत शुभ करते करते उसे लाभकारक माननेसे मिथ्यात्वकी पुष्टि होती है। शुभभाव राग है, राग करते-करते अरागी स्वभावकी दृष्टि तीनकालमें प्रगट नहीं होती। पुण्य करते करते न तो धर्म होता है और न सम्यक्त्व ही प्रगट होता है। लोगोंको इस बातको हृदयमें उतारना मुश्किल लगता है किन्तु जिन्हें जन्म-मरणका अन्त करना है उन्हें इस बातको हृदयमें उतारे बिना दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

जो जीव भगवानके द्वारा कथित आत्मस्वरूपकी पहिचान नहीं करता और यह निर्णय नहीं करता कि मेरा स्वभाव निःशंक भवके भावसे रहित तथा भवसे भी रहित है, तबतक वह यदि देव-शास्त्र-गुरुकी भक्ति, पूजन, तप, व्रत, दान इत्यादि सब कुछ करता रहे तो भी उसमें मात्र पुण्य है। जो भगवानके द्वारा कहे गये परिपूर्ण स्वभावकी श्रद्धा करता है वही सच्चा धर्मात्मा है।

ग्रन्थकार कहते हैं कि तुमने महाभाग्यसे यह मनुष्य देह पाया है इसलिए वीतराग प्ररूपित धर्मको पहचानो। वीतरागमार्गमें सर्व धर्मका (आत्माके श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र आदि सभी धर्मका) पहला मूल सम्यग्दर्शन है, और उसका भी मूल तत्त्वनिर्णय है, तथा तत्त्वनिर्णयका मूल शास्त्राभ्यास है; उसे अवश्य करना चाहिए। जो शुभवृत्ति उत्पन्न होती है वह आस्रवतत्त्व है—वह संवरतत्त्वका स्वरूप नहीं है। तब फिर संवरतत्त्वका या धर्मका स्वरूप क्या है? इसका निर्णय करनेके लिए जिनकथित शास्त्राभ्यास करना चाहिए।

तत्त्वका स्वरूप समझे बिना लोग कहते हैं कि “ भगवानने घोर तपस्या की थी, किन्तु तपस्याका सच्चा स्वरूप नहीं जानते। क्या भगवानकी तपस्या दुःख था ? क्या धर्म कष्टदायक होता है ? नहीं। भगवानके अन्तरस्वरूपको जो नहीं जानते वह उनकी तपस्याका स्वरूप कैसे जान सके ? भगवान तो चिदानन्दतत्त्वके अनुभवकी लहरमें थे, स्वरूपके अपूर्व आनन्दमें लीन थे। अन्तरस्वरूपकी लीनतामें आहार इत्यादिक सहज ही छूट गये थे। ऐसी तपस्या भगवानकी थी, उसमें दुःख नहीं था किन्तु आनन्द ही आनन्द था। तत्त्वका स्वरूप समझे बिना चाहे जिसकी हाँमें हाँ मिला देना—यह बात पात्र जीवके लिये शोभास्पद नहीं है। अरे ! तत्त्वनिर्णयका ऐसा सुअवसर मिला है उसे जो व्यर्थ गँवा देता है और तत्त्वनिर्णय नहीं करता उस पर दया करके आचार्य महाराज कहते हैं कि—

प्रज्ञैव दुर्लभा सुष्ठु दुर्लभा सान्यजन्मने।

तां प्राप्य ये प्रमाद्यन्ति ते शोच्याः खलु धीमताम् ॥१४॥

—आत्मानुशासन

पहले तो इस जगतमें बुद्धिका होना ही दुर्लभ है और फिर उसमें भी परलोकके लिये बुद्धिका होना तो और भी अधिक दुर्लभ है। जो मनुष्य हुआ उसको बुद्धि तो मिली है, किन्तु उसमें भी वीतराग भगवानके द्वारा कहे गये मार्गका यथार्थ श्रवण दुर्लभ है। हे भाई ! एकबार तू प्रेमसे वीतरागका मार्ग सुन तो सही, यह मार्ग अपूर्व है। पहले कभी ऐसा मार्ग नहीं जाना था। अब यह अवसर मिलने पर भी जो इसे व्यर्थ ही गँवा देता है उस पर ज्ञानियोंको करुणा आती है।

सच्चा जैन किसे कहा जाय ? जो यह मानते हैं कि जैन व अन्य

सभी धर्म समान हैं, वे तो व्यवहार जैन भी नहीं हैं। जैन धर्म तो आत्माका स्वरूप है, विश्वदर्शन है, उसका स्वरूप तीनकाल और तीनलोकमें भी नहीं बदल सकता, और दूसरोंके साथ उसका मिलान नहीं हो सकता। जिसने छह द्रव्यों (छह द्रव्योंमें अपना आत्मा भी आ जाता है,) उसको जान लिया है और जो रागद्वेषको दूर करते हैं वे ही आत्मा सच्चे जैन हैं। सच्चा जैनी होनेके लिए सर्व प्रथम आगम द्वारा तत्त्वका निर्णय करना चाहिए। जो तत्त्वका निर्णय नहीं करते वे सच्चे जैन नहीं हैं। जो तत्त्वका निर्णय नहीं करता और पूजा, स्तोत्र, दर्शन, त्याग, तप, वैराग्य, संयम, संतोष इत्यादि सब व्यवहार कार्य किया करता है उसके यह सब कार्य मोक्षके लिए व्यर्थ हैं। इसी शास्त्र (सत्तास्वरूप)में आगे कहा है कि—“जो सर्वज्ञकी सत्ताका निश्चय नहीं करता और कुछ परम्परासे, पंचायतके आश्रयसे, अथवा मिथ्या धर्मबुद्धिसे, दर्शन-पूजनादिरूप प्रवृत्ति करता है अथवा जो मतपक्षके हठाग्रहके कारण दूसरें (देवी देवताओं) को न भी माने और मात्र उसका (अपने माने हुए जिनदेवादिकका) ही सेवक बना रहे उसे भी अपने आत्मकल्याणरूप कार्यकी सिद्धि नहीं होती। इसलिये वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही है; जब कि वह सर्वज्ञकी सत्ताका ही निश्चय नहीं कर सका तब वह सर्वज्ञस्वभावी स्व स्वरूपका निश्चय कैसे करेगा ?”

जो भगवानके पास जाकर पूजा, स्तोत्र इत्यादिक तो करता है किन्तु यह निर्णय नहीं करता कि भगवान कौन हैं और मैं कौन हूँ ? उसे धर्म कैसे होगा ? वह अपने बचावके लिए यह कहता है कि ‘हम पंचमकालके अल्पबुद्धिवाले प्राणी हैं इसलिए हम तत्त्वका निर्णय नहीं कर सकते।’ किन्तु यह बात वीतरागमार्गमें नहीं चल सकती। तत्त्वनिर्णयमें किसी भी प्रकारकी गड़बड़ी नहीं चल सकती। भैया ! संसारके काममें तो तेरी बुद्धि चलती है, वहाँ तुझे

पंचमकाल बाधक नहीं होता, और इस तत्त्वनिर्णयमें तेरी बुद्धि नहीं चलती, यह बात ही गलत है। वास्तवमें तुझे तत्त्वनिर्णयकी दरकार नहीं है। तत्त्वनिर्णयके बिना त्याग किसका करेगा ? जो वास्तवमें तुझे समझनेलायक तत्त्व है उसे तो समझता नहीं है और बाहरी त्याग-वैराग्यमें आत्मभानके बिना लग जाता है, किन्तु इसमें भी धर्म नहीं है। और तत्त्वज्ञानके बिना अकेला वैराग्य (मंदराग) भी वस्तुका स्वरूप नहीं है। वह तो पुण्यभाव है, उसमें धर्म नहीं है। संयमका पालन करे, परिग्रहको कम करे, एकबार रसोई बनावे, इसमें वह मान बैठा है कि प्रवृत्ति कम हो गई, और अमुक रकमसे अधिक न रखकर उसमें धर्म मान लेता है, किन्तु आत्मभानके बिना वीतरागकी तराजूमें उसके त्याग और संतोष इत्यादिककी धर्ममें गिनती नहीं है। वीतरागमार्गमें तत्त्वनिर्णयके बिना धर्म हो ही नहीं सकता। आत्माके निर्णय बिना व्रत, तप, भक्ति, पूजा इत्यादि समस्त कार्य असत् हैं। उसमें पुण्य है लेकिन धर्म नहीं है, इसलिए उसको असत् कहा।

कुछ लोग भड़कके कहते हैं कि अरे ! क्या हमारा सब गलत ? ऐसे विपरीत मान्यतावाले भड़क उठें, ऐसी यह बात है। जगतके लोग जरासी शुभरागकी क्रिया करके समझते हैं कि अब तो मोक्ष हो जायेगा, किंतु यहाँ कहते हैं कि सम्यग्दर्शनके बिना यह सब असत् है। आत्माको समझे बिना व्रत, तप इत्यादिक करना वह तो बिना इकाईकी बिन्दीके समान है।

पुण्य करते करते उससे धर्म हो जाय यह अशक्य है। अभी पुण्य करेंगे तो देव होंगे और उसके बाद भगवानके पास जाकर धर्म प्राप्त करेंगे, इसलिए अभी पुण्य करलें, इस समय तत्त्व समझनेकी आवश्यकता नहीं है, ऐसी मान्यतावाले धर्मको तो प्राप्त नहीं कर पाते किन्तु तत्त्वके विरोधसे नीचे उतरते जाते हैं। आत्माका निर्णय किये

बिना शुभभाव करके यदि कोई जीव देव हो भी गया तो उससे क्या ? वह पुण्यसे लाभ मानकर अपने गुणोंको तो दग्ध कर रहा है।

अरे जीव ! आत्माका भान प्राप्त किये बिना प्रतिक्षण अरबों रूपया पैदा करनेवाला बहुत बड़ा राजा भी अनन्तबार हुआ, स्वर्गका बहुत बड़ा देव भी तू अनन्तबार हुआ और ऐसी विक्रियाऋद्धिवाला देव भी हुआ जो एक कल्पनामात्र करके अनेक द्वारिका नगरियाँ, अनेक कृष्ण और अनेक गोपियाँ दिखा सकता है। किन्तु भाई ! आत्माका भान किये बिना तेरा उद्धार न हुआ और तेरे चौरासीके अवतारका अन्त न हुआ।

प्रश्न :—आपने कहा कि दया, दानादिमें धर्म नहीं है, तो इससे तो पैसेवालोंनेकी बन आयेगी। क्योंकि अब वे पैसा क्यों खर्च करेंगे ?

उत्तर :—भाई यह तो सही है कि दान इत्यादिमें धर्म नहीं होता, किन्तु यह कौन कहता है कि तृष्णा कम नहीं करना चाहिये ? पहले तृष्णा तो कम करे, तृष्णा कम करनेके लिए कौन इनकार करता है ? तृष्णा कम करनेमात्रसे धर्म नहीं है, किन्तु यदि वह तृष्णा ही न घटाये तब तो पापभावमें ही जायेगा।

तत्त्वका निर्णय करनेके लिए सबसे पहले भगवानके द्वारा कहे गये आगमका सेवन करना चाहिए। इस कथनमें यह भी निहित है कि सच्चा आगम क्या है इसका निर्णय कर लिया जाय। युक्तिका अवलम्बन चाहिये। धर्म तो अपूर्व वस्तु है, वह ऐसी वस्तु है जिसे अनादिसे कभी प्राप्त नहीं किया। यह साधारण वस्तु नहीं है। जो ऐसे गैरे कहते हैं वह सच्चा मार्ग नहीं है। क्योंकि जैसा वे कहते हैं वैसा तो अनन्तबार जीव कर चुका है, किन्तु इससे इसका संसार परिभ्रमण

नहीं मिटा। इसलिए धर्म वस्तु उससे कोई दूसरी ही है, इसप्रकार सत्शास्त्र द्वारा तथा प्रबल युक्तियों द्वारा निर्णय करना चाहिए, तथा परम्परा गुरुओंका उपदेश और स्वानुभव इन चारों द्वारा तत्त्वका निर्णय करना चाहिए। ऐसे चारों प्रकारके द्वारा आत्माकी पहिचान करनी चाहिए।

आदमी संसारके कामकी विधि बराबर समझता है, वह उस विधिमें उलटा नहीं करता। हलुआ बनाना हो तो पहले घीमें आटेको सेकता है और उसके बाद शक्करका पानी डालता है; किन्तु पहले शक्करके पानीमें आटेको डालकर सेके तो हलुआ नहीं बनेगा। इसी प्रकार धर्मके लिए भगवानने पहली विधि आत्माका निर्णय करना बताई है, उसको समझे बिना उलटा करे तो धर्म नहीं होगा। जब तक आत्माके स्वभावका तत्त्वसे यथार्थ निर्णय नहीं किया जाय तबतक जितने भी व्रत, तप आदि किये जाते हैं वे सब शक्करके पानीमें आटेको डालकर हलुआ बनानेके समान हैं, जो कभी भी नहीं हो सकता। यदि विधिमें फर्क पड़ जाय तो निश्चित कार्य नहीं होता। धर्मकी विधिमें पहले आत्माका निर्णय करनेरूप जो सम्यग्दर्शन है वह घीमें आटेको सेकनेके समान है; और सम्यग्दर्शनके बिना व्रत, तप इत्यादि सब कुछ करने लग जाय तो वह शक्करके पानीमें आटेको डालनेके समान है। तात्पर्य यह है कि पहले सम्यग्दर्शनरूपी विधिके बिना धर्म नहीं होता। तत्त्वनिर्णयके लिये जिनवचन चतुर अनुयोगमय है उसका रहस्य ज्ञातव्य है, उसमें द्रव्यानुयोगमें द्रव्य-गुण-पर्याय आदि वस्तुस्वरूपका कथन होता है। चरणानुयोगमें रागको घटाने और परिणाम सुधारनेके लिए मुनि-श्रावकके आचरणका कथन होता है। करणानुयोगमें कर्मादिके स्वरूपादिकी और स्वर्गलोक, मध्यलोक और अधोलोककी रचनाकी

तथा गुणस्थानादिके सूक्ष्म परिणामोंकी बात होती है। और प्रथमानुयोगमें धर्मकथाओं द्वारा तीर्थंकरादि पुराणपुरुषोंका जीवनचरित्र होता है; ऐसे चारों अनुयोगके अभ्यासके द्वारा सभी पहलुओंसे मिलान करके तत्त्वका निर्णय करना चाहिए।

आत्मा क्या वस्तु है, नवतत्त्व क्या है ? इत्यादिका निर्णय न हो तो धर्म नहीं होगा। यदि कोई आत्माका निर्णय किये बिना व्रत, तप करने लग जाय तो उसको मात्र पुण्यबन्ध होगा, आत्मकल्याणरूप धर्म नहीं होता।

भगवानके वचन अपार हैं, श्री गणधरदेव भी उसका पूरा पार नहीं पा सके। इसलिए वीतरागदेव द्वारा कहे गये तत्त्वोंमें प्रयोजनभूत तत्त्वोंका पहले निर्णय करना चाहिए। यदि प्रयोजनभूत वस्तुमें फर्क आ गया तो तत्त्वका निर्णय सम्यक् नहीं होगा। संसारमें किसीके दो दुकानें हों, उनमें एक हो हीरा-माणिककी बड़ी दुकान और दूसरी हो बिनौलेकी छोटी दुकान, उनमेंसे हीरा माणिककी दुकानमें नफा हो और बिनौलेकी दुकानमें नुकसान हो तो वह नुकसान पूरा हो सकता है। किन्तु यदि हीरा-माणिककी दुकानमें नुकसान हो और बिनौलेकी दुकानमें लाभ हो तो हीरा-माणिककी दुकानकी हानि पूरी नहीं की जा सकती। वहाँ व्यापारी हीरेकी दुकानकी ओर बराबर ध्यान रखता है क्योंकि मूल रकम हीरेकी दुकानमें हैं। इसीप्रकार आत्मस्वरूपके निर्णयका उद्यम तो जवाहरातकी दुकान जैसा है, और शुभभाव तो बिनौलेकी दुकान जैसा है, आत्माके स्वरूपके निर्णयमें जो भूल होती है वह जवाहरातकी दुकानकी हानिकी तरह है, और जो दया, दान, भक्ति इत्यादिक पुण्यभावमें लगना है सो बिनौलेकी दुकानके मुनाफेकी तरह है। किन्तु उस छोटेसे मुनाफेसे उस बड़े



भारी नुकसानकी पूर्ति नहीं हो सकती जो नुकसान स्वरूप निर्णयकी भूलसे होता है।

पहले काशतकारका उदाहरण दे चुके हैं; उसमें कहा है कि जब वह नगद रकमका ही इन्कार करता है तो उसे वहीखातेमेंसे कैसे निकाला जाय ? इसी प्रकार प्रयोजनभूत रकमका निर्णय किये बिना यदि कोई पुण्य करता है और तत्त्व समझनेका इन्कार करता है तो उसको धर्म नहीं है। इसलिए चौरासीके बहीखातेमेंसे उसका छुटकारा नहीं हो सकता; इसलिए हे जीव ! तुझे यही सीखना चाहिए कि जिससे जन्म-मरणका नाश हो, तत्त्वका निर्णय सबसे प्रथम करना चाहिए। संसार भले पागल कहे या निन्दा करे किन्तु इस तत्त्वका निर्णय करनेसे मत चूकना। श्री समयसारजीमें कहा है कि : “तू एक बार जिज्ञासा तो कर कि यह चैतन्य तत्त्व क्या है ? प्रतिष्ठामें, कीर्तिमें, धन-सम्पत्तिमें और कुटुम्ब इत्यादिमें अपनापन मानकर जो उसमें एकतान हो रहा है उसे भूलकर भीतर आत्मामें एकबार डुबकी लगाकर उसकी तह तक पहुँच जा। जैसे कोई गोताखोर कुएमें डुबकी लगाकर उसकी तहतक पहुँच जाता है उसी प्रकार आत्माकी तहतक पहुँचनेका प्रयत्न कर। दुनियाँको भूलकर—अरे ! मरकरके भी अंतर्तत्त्व क्या है यह जाननेके लिए आत्माके भीतर एकबार डुबकी तो लगा। मरकर भी अर्थात् चाहे जैसी प्रतिकूलता और कठिनाईयोंको झेलकर भी एकबार आत्माको जाननेका कुतुहल कर—तीव्र जिज्ञासा कर। तुने अनन्तबार शरीरके लिए आत्माको गँवा दिया किन्तु एकबार आत्माके लिए सारा जीवन दे दे, जिससे तुझे भव न रहे। दुनियाको भूल जा, दुनियाकी परवाहको छोड़कर आत्मरसमें मस्त हो जा और पुरुषार्थ करके अंतर्पटको तोड़ दे।”



\*\*\*\*\*  
प्रवचन : ३  
प्रयोजनभूत तत्त्वोंका दिग्दर्शन  
ॐ \*\*\*\*\*

मुमुक्षुको अपने आत्महितके लिए मूल तत्त्वोंकी पहिचान करनी चाहिए। अपने प्रयोजनभूत तत्त्वोंकी पहिचानके बिना कल्याण नहीं होता। जैसे लोग किसी पेढीको चलाते हुए अमुक लाभदायक मुख्य वस्तुका व्यापार करते हैं, उसीप्रकार त्रिलोकीनाथ तीर्थकरदेवकी धर्मकी जाज्वल्यमान पेढीमें मूल प्रयोजनभूत अनेक रकमें हैं, उन्हें निर्णयपूर्वक अवश्य जानना चाहिए। कहा है कि :—

अन्तो णत्थि सुईणं कालो थोओ वयं च दुम्मेहा।

तं णवर सिक्खियवं जिं जरमरणक्खयं कुणहि॥९८॥

पाहुड-दोहा

श्रुतियाँ अनन्त हैं और काल थोड़ा है तथा हम अल्पबुद्धिवाले हैं, इसलिए हे जीव ! तुझे वह सीखना चाहिए जिससे तू जन्म-मरणका नाश कर सके। मोक्षमार्गमें कौन कौनसी वस्तुएँ जानना आवश्यक हैं? उनमेंसे कुछ यहाँ बताई हैं। सबसे पहला है—जिनधर्म।

(१) **जिनधर्म** :—त्रिलोकीनाथ तीर्थकरदेवकी धर्मकी जाज्वल्यमान पेढी, जहाँ शुद्ध मार्ग प्रवर्तित करनेवाली दिव्यवाणी खिर रही हो उसके मार्गका क्या कहना ! जिनधर्म ही परम सत्य धर्म है, उसे पहचान कर उसका निर्णय करना चाहिए। वीतरागता ही जिनधर्म है; जो राग है वह धर्म नहीं है।

(२) **जिनमत** :—जिनने आत्माके स्वभावसे राग-द्वेषको जीत लिया वे जैन हैं। उनका मत क्या है, वे क्या कहते हैं? यह जानना चाहिए।

(३-४) **देव-कुदेव** :—अरहन्त और सिद्ध दोनों देव हैं उनका लक्षण क्या है? यह जानना चाहिए। जो उनसे विरुद्ध है वे कुदेव हैं, इनका सेवन छोड़ना चाहिए।

(५-६) **गुरु-कुगुरु** :—सच्चा गुरु कौन है? सब अपनेको सच्चा ही कहलवाते हैं किन्तु उनमें सच्चा कौन है? और दम्भी कौन है? इसका निर्णय करना चाहिए।

(७-८) **शास्त्र-कुशास्त्र** :—अनेक शास्त्र हैं उनमेंसे सच्चे कौनसे हैं और खोटे कौनसे हैं? त्रिलोकीनाथ तीर्थकरदेवकी वाणीमें कहे गये तत्त्वके स्वरूपको दिखानेवाले सच्चे शास्त्र कौनसे हैं? और उनसे विरुद्ध कौनसे हैं इसका निर्णय करना चाहिये।

यह सब प्रयोजनभूत तत्त्व हैं। समस्त प्रयोजनभूत तत्त्वोंका यथार्थ निर्णय करना चाहिए। प्रयोजनभूत तत्त्वोंका निर्णय किये बिना तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता। और तत्त्वज्ञानके बिना कल्याण नहीं होता।

जिनधर्मको समझनेवाले और समझानेवाले सच्चे गुरु कैसे होते हैं? यह जानना चाहिए। जिसने बहिरंगमें साधुका वेष धारण कर लिया हो और बाह्यक्रियाओंका पालन करता हो, किन्तु अन्तरंगमें तत्त्व-श्रद्धान विपरीत हो तो उसमें गुरुत्वकी योग्यता नहीं, वह कुगुरु है। रत्नत्रयधारक वीतरागी दिगम्बर मुनि ही सच्चा गुरु है।

(९-११) **धर्म-अधर्म-कुधर्म** :—धर्म वस्तुका स्वभाव है, वह कहीं बाहरसे नहीं आता। जिसमें धर्मकी कोई खबर

ही न हो, वह अधर्म है। अथवा धर्मकी जिसमें कोई रुचि ही न हो वह अधर्म है। धर्म तो वस्तुका स्वभाव है, आत्माका वीतरागभाव धर्म है। वह कोई साधारण नहीं है। चार ज्ञानके धारी गणधरदेव और इन्द्र चक्रवर्ती इत्यादि महान व्यक्ति जिसका आदर करते हैं ऐसा जैन धर्म है, वह ऐरे गैरे लोग कहते हैं ऐसा साधारण नहीं है। धर्म तो अपूर्व वस्तु है। धर्मके नाम पर बहुतसे लोग उपदेश करते हैं; वे कहते हैं कि खूब पुण्य करो, उससे धर्म होगा। पुण्य कर करके पुण्यका समुद्र उछला दो, उससे पुण्य फटकरके उसमेंसे धर्म प्रगट होगा; उसका अर्थ यह हुआ कि विषको पीते पीते अमृतका स्वाद आ जायगा। यों कहनेवाले सच्चे वीतरागी धर्मका स्वरूप नहीं समझे हैं। पुण्य तो बन्धभाव है, जिस भावसे पराधीनता होती है, जिससे बन्धन होता है उस भावसे स्वाधीनतारूपी धर्म कैसे हो सकता है ? और वह मोक्षका साधन कैसे हो सकता है ? धर्मके स्वरूपसे जो विपरीत मान्यता है वह कुधर्म है। जहाँ पर हित और अहितका किंचित्मात्र भी विचार नहीं है और सच्चे मार्गकी ओर कोई रुचि ही नहीं है, वह अधर्म है।

**(१२-१३) हेय-उपादेय :**—कौन कौनसे तत्त्व ग्रहण करने योग्य हैं और कौन कौनसे त्याग करने योग्य हैं इसका निर्णय करना चाहिए। मोक्षके कारणरूप तत्त्व उपादेय हैं, बन्धके कारणरूप रागादि भाव सभी हेय हैं।

सच्चे देव-गुरु और धर्मका संशय रहित ठीक ठीक निर्णय करना चाहिए। अज्ञानता बचाव नहीं, किन्तु दोष है। लोक कहते हैं कि “अन्धेकी गायका भगवान रखवाला” किन्तु यह बात यहाँ पर धर्ममें नहीं चल सकती। यहाँ तो जन्म-मरणको मिटानेकी बात

है। परम सत्यधर्ममें अन्ध-श्रद्धासे काम नहीं चल सकता। यह तो मिथ्यात्व रागादिदोष रहित स्वरूपमार्ग है, अनन्त तीर्थकरोंका मार्ग हैं, उसमें प्रयोजनभूत तत्त्वकी श्रद्धामें किंचित् मात्र भी विपरीतता नहीं चल सकती।

**(१४-१६) तत्त्व-अतत्त्व-कुतत्त्व** :—सर्वज्ञ भगवान द्वारा कहे गये नवतत्त्वोंका स्वरूप क्या है ? तत्त्वसे विपरीत क्या है ? अज्ञानियोंके द्वारा माना गया तत्त्वका स्वरूप जो कुतत्त्व है वह क्या है ? केवल झूठी बातोंसे कल्पना द्वारा दूसरोंका माना हुआ कुतत्त्व क्या है ? इस सबका यथार्थ निर्णय आगमके द्वारा करना चाहिए।

**(१७-१९) मार्ग-कुमार्ग-अमार्ग** :—सर्वज्ञ भगवानके द्वारा कहा गया मोक्षका मार्ग क्या है ? उससे विपरीत कुमार्ग क्या है ? और जहाँ पर हिताहितका बिलकुल विचार ही नहीं है, मार्गकी ओर झुकाव ही नहीं है, ऐसा अमार्ग क्या है ? यह जानना चाहिए।

प्रश्न :—अमार्गमें तो मार्गकी ओर झुकाव ही नहीं है, तब उस अमार्गसे तो कुमार्ग ही अच्छा है न ?

उत्तर :—इन दो मार्गोंमेंसे एक भी मार्ग ठीक नहीं है। जहाँ सत्य समझमें नहीं आता और असत्यको घुसेड़ दिया जाय तो उस मार्गको ठीक कैसे कहा जायगा ? कुमार्ग और अमार्ग दोनों ही खराब हैं। वीतरागी जिनमार्ग ही कल्याणकारी सच्चा मार्ग है।

**(२०-२१) संगति-कुसंगति** :—सत्संग क्या है ? और असत्संग क्या है ? तथा यथार्थ बात कहाँसे मिलती है यह बात जानना चाहिए। और विपरीत मान्यतावालोंका कुसंग छोड़ना चाहिए।

**(२२-२३) संसार-मोक्ष :**—संसार और मोक्ष किसे कहना ? स्त्री, मकान, लक्ष्मी, कुटुम्ब इत्यादि पर पदार्थोंमें आत्माका संसार नहीं है किन्तु शरीर मेरा है, मैं परका कुछ कर सकता हूँ, पुण्यसे मुझे लाभ होता है, पुण्य करते करते धर्म होता है इस प्रकारकी जो विपरीत मान्यता है, वह मिथ्यात्वादि भाव ही संसार है। वह आत्माकी क्षणिक विकारी अवस्था है और पुण्य-पाप रहित स्वभावका भान तथा स्थिरता द्वारा सम्पूर्ण पवित्रतारूप जो अपनी निर्मल दशा होती है वह मोक्ष है, वह भी आत्माकी अवस्था है। मोक्ष कहीं बाहरसे नहीं आता किन्तु पुरुषार्थके द्वारा आत्मामेंसे ही परिपूर्ण शुद्ध ज्ञानानंदमय मोक्षदशा प्रगट होती है।

प्रश्न :—जैनधर्म तो सबसे निराला (बेमेल) मालूम होता है।

उत्तर :—जैनधर्म स्वभावके साथ सम्पूर्ण मेलवाला है। हाँ इस सत्यार्थ धर्मका किसी भी असत्यार्थ धर्मके साथ मेल नहीं हो सकता, इसलिए वह असत्यसे बिलकुल बेमेल है। मेल ठिकानेके लिए विष और अमृतको एकसा नहीं माना जा सकता। उसी प्रकार जैनधर्मकी अन्य धर्मके साथ तुलना नहीं हो सकती। मोक्षदशामें एक आत्मा दूसरे आत्मामें मिल नहीं जाता; किन्तु पूर्ण पवित्रता प्रगट करके वह भगवान अनन्तकाल तक स्वतंत्रतया अपने स्वरूपकी शांति और अनन्त सुखका भोग करता है। जगत्का दुःख देखकर वह भगवान अवतार नहीं लेते, भगवान तो वीतराग हैं। निवृत्ति लेकर सत्समागमके द्वारा सत्का निर्णय करना चाहिए। इस तत्त्वनिर्णयके लिए प्रयोजनभूत रकम कौन कौनसी हैं ? यह कहा जाता है।

**(२४-२५) जीव-अजीव :** जीव किसे कहते हैं ? और अजीव किसे कहते हैं ? इन दोनोंका लक्षणोंके द्वारा यथार्थ निर्णय

करना चाहिये। लोग कहते हैं कि हाथी, चींटी, मनुष्य इत्यादि दिखते हैं वह जीव है, किन्तु हाथी इत्यादि दिखता है वह तो शरीर है—और वह अजीव है; वह शरीर छूट जाता है। वास्तवमें देखा जाय तो शरीरमें रहनेवाला जो ज्ञाता है वह जीव है। शरीर तो अजीव है। शरीर कहीं जीवके साथ नहीं आता क्योंकि वह जीवसे भिन्न वस्तु है—अजीव है। और आत्मा असंयोगी ज्ञान, आनन्दकी मूर्ति है। चैतन्यतत्त्व अमूर्त है वही जीव है।

(२६) आस्रव :—जो मिथ्यात्व तथा पुण्य-पापके विकारी भाव हैं वे आस्रवभाव हैं। व्रत, तपका विकल्प शुभ आस्रव है, हिंसादिक अशुभ है। आत्मभानके बिना व्रत, तप या त्याग सत्य नहीं हो सकते। बाह्य लौकिक नीति, सत्य बोलना इत्यादि तथा धर्मका बाना धारण करके जो शुभभावकी क्रिया है वह भी आस्रव है, विकार है, बन्धन है, वह संवर निर्जरारूप जैनधर्म नहीं है। जैनधर्म तो आत्माका वीतरागस्वरूप है उसका भान किये बिना और भानके बाद भी जो भक्ति, व्रत, पूजा इत्यादि शुभभाव करनेसे पुण्यका बंध होता है, वह शुभ आस्रव है वह धर्म नहीं है, संवर नहीं है।

(२७) बन्ध :—पुण्य और पाप दोनों बन्धन हैं, पापकी अपेक्षासे पुण्य ठीक है, किन्तु धर्म पुण्यसे अलग वस्तु है। जिस भावसे बन्ध होता है उस भावसे आत्माका अबन्ध स्वभावरूप धर्म नहीं होता।

(२८-२९) संवर-निर्जरा :—आत्माके किस भावसे नया आस्रव-बन्ध रुकता है ? और किस भावसे पूर्वके पुण्य-पापका आंशिक अभाव होता है ? इसका बराबर निर्णय करना चाहिए।

आत्मभानके बिना यथार्थ संवर-निर्जरा नहीं हो सकती। लोग मानते हैं कि खाना पीना छोड़ दिया इसलिए तप हो गया और निर्जरा हो गई और उपवास करके शरीरको सुखा लिया इसलिए अन्दर धर्म हुआ होगा।

इस प्रकार शरीरकी दशासे धर्मको नापते हैं, किन्तु उन्हें अभी यह खबर भी नहीं कि धर्म क्या वस्तु है ? और वह कहाँ है ? धर्मस्वरूप आत्माकी पहिचान हुए बिना धर्म कहाँसे होगा ? और उसके बिना संवर-निर्जरा नहीं हो सकती। आत्मभानके बिना कर्मोंकी तो नहीं, किन्तु कालकी निर्जरा होती है अर्थात् उसका समय व्यर्थ जाता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागभावसे ही संवर-निर्जरा होती है।

वीतरागमार्गमें आवश्यक रकमोंका ठीक निर्णय न करके धर्मके नाम पर बाह्य प्रवृत्तियोंमें लगे रहनेसे भव नहीं घटता, धर्म नहीं होता।

**(३०) मोक्ष :**—पहले तेवीसवीं रकममें मोक्षकी बात कही गई थी, किन्तु वह संसार और मोक्ष इन दो अवस्थाओंकी बात थी। यहाँ पर सात तत्त्वोंमेंसे मोक्ष तत्त्वकी बात है।

**(३१-३६) जीव-पुद्गल-धर्म-अधर्म-आकाश-काल :**—यह छह जातिके द्रव्य जगतकी त्रैकालिक वस्तुएँ हैं। जीव अनन्त हैं, पुद्गल अनन्तानन्त है, एक धर्म और एक अधर्म द्रव्य है जो समस्त लोकमें व्याप्त है। सर्वज्ञ वीतरागदेवके सिवाय दूसरोंके मतमें धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय द्रव्यके यथार्थ स्वरूपका कथन नहीं है। लौकिक रीतिसे निर्णय कर लेना यथार्थ निर्णय नहीं है। आकाश सर्वव्यापक एक अरूपी वस्तु है जो



लोकालोकमें व्याप्त होकर रहते हैं और काल-द्रव्यके असंख्यात अणु हैं, ऐसे छह द्रव्यके स्वरूप पहचानना चाहिए।

(३७) वस्तु :—वस्तु किसे कहते हैं ? वस्तु त्रैकालिक है, उसका कभी नाश नहीं होता। प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र होती है, कोई वस्तु पराधीन नहीं होती और वस्तु अनेकान्तस्वरूप है।

(३८-४०) द्रव्य-गुण-पर्याय :—द्रव्य अर्थात् गुणोंका समुदाय; प्रत्येक द्रव्यके गुण पृथक् पृथक् हैं। जो वस्तुके सर्व भागमें और उसकी त्रैकालिक सर्व अवस्थाओंमें रहता है वह गुण है। प्रत्येक वस्तुमें अनन्त गुण है और उन गुणोंकी प्रति समय अवस्था बदलती रहती है—गुणोंका परिणमन हुआ करता है उसे पर्याय कहते हैं।

कुछ जीवोंने तो ऐसी चर्चा पहले कभी नहीं सुनी होगी। वस्तुका ज्ञान किये बिना, धर्म करना चाहता है किन्तु उसे यह भान ही नहीं है कि धर्म कहाँ होता है ? आत्माको धन आदि बाह्य वस्तुसे किंचित् मात्र भी लाभ नहीं है। यहाँ तो आत्माके अंतरंग धनकी बात हो रही है।

पैसेसे न तो लाभ होता है और न हानि। किन्तु उसके प्रति जो ममता है वही हानि करती है।

प्रश्न :—जब कि पैसा हानि नहीं करता तब पैसा रख लेनेसे क्या हानि है ?

उत्तर :—पैसा हानि नहीं करता यह ठीक है। किन्तु हमने यह कब कहा है कि पैसेके प्रति ममता करनी चाहिए तथा पैसेको रखनेका भाव करना चाहिए और उसके प्रति जो तृष्णा है उसे कम

न करना चाहिये ? तू अपने भावमें पैसेकी ममताको कम क्यों नहीं करता ? इसकी कौन मना करता है ? धनके प्रमाणमें मोह नहीं है किन्तु उसके प्रति जो तृष्णा है उसके प्रमाणमें मोह और बन्धन है। किसीके धन तो थोड़ा होता है और ममता अधिक होती है और किसीके धन अधिक होता है और ममता थोड़ी।

द्रव्य क्या है और पर्याय क्या है ? सिद्धपना है सो द्रव्य नहीं किन्तु आत्माकी निर्मल पर्याय है। द्रव्य त्रिकाल एकसा रहता है और पर्याय नयी नयी होती रहती है। राग जीवकी अवस्था है अथवा जड़की ? कौनसी अवस्था किस द्रव्यकी है ? यह सब, जिस प्रकार है उसीप्रकार जानना चाहिये।

**(४१) द्रव्यपर्याय** :—वस्तुके आकारको अथवा क्षेत्रांशको द्रव्यपर्याय कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य अपने अपने ही क्षेत्रमें रह रहा है। आत्मा असंख्यप्रदेशी है वह उसका स्वक्षेत्र है। यह बात गलत है 'एक ही आत्मा है और वह सर्वव्यापी है।' जीव अनंत है और वे सब तीनोंकालमें पृथक् पृथक् ही हैं; प्रत्येककी द्रव्यपर्याय पृथक् पृथक् है।

**प्रश्न** :—हाथीके शरीरमें रहनेवाला जीव चींटीके शरीरमें कैसे समा सकता है ?

**उत्तर** :—जब जीव हाथीके शरीरमें होता है तब उसके असंख्यात प्रदेश समस्त शरीरमें फैल जाते हैं और जब चींटीके शरीरमें होता है तब उसका आकार संकुचित हो जाता है; फिर भी आत्माके प्रदेशोंकी संख्यामें किंचित्मात्र भी कमीवेशी नहीं होती। और न प्रदेश छोटा-बड़ा होता है। चींटीका भी आत्मा असंख्यातप्रदेशी है और हाथीका आत्मा भी असंख्यातप्रदेशी है,

उनके प्रदेशोंमें और आत्माके गुणोंमें भी हीनाधिकता नहीं होती। सिद्ध भगवानमें जितने गुण है उतने ही सब गुण प्रत्येक आत्मामें सदा भरे रहते हैं। अनादिसे संसारमें रहने पर भी जीवका एक भी गुण कम नहीं हुआ। वस्तु स्वतंत्र है, वह किसीके आधीन नहीं है; यह बात अपूर्व है, इसको एकबार तो स्वीकार कर। यदि हाँ कहेगा तो सिद्ध होगा, और ना कहेगा तो संसारमें रुलेगा।

**(४२) अर्थपर्याय :**—प्रदेशत्वगुणके सिवाय अन्य गुणोंके परिणामनको अर्थपर्याय कहते हैं।

**(४३) व्यंजनपर्याय :**—व्यंजनपर्यायको द्रव्यपर्याय भी कहते हैं। जो वस्तुका आकार है सो व्यंजनपर्याय है, शरीरका आकार अलग है। आत्मप्रदेशोंका जो आकार है सो आत्माकी व्यंजनपर्याय है। आत्माका आकार वर्तमान देहप्रमाण है किन्तु शरीरका आकार भिन्न है और आत्माका आकार भिन्न है। कोई किसीके लिए प्रेरणा वा मदद नहीं करता, दोनों स्वतंत्र हैं। यह सब मूल रकमें कहलाती हैं। जो इन मूल रकमोंके स्वरूपको नहीं मानता और विपरीत मानता है वह सच्चा जैन नहीं है, तब वह श्रावक या साधु कहाँसे हो सकता है ?

**प्रश्न :**—हम प्रति वर्ष तीर्थयात्राके लिए जाते हैं फिर भी श्रावक नहीं ?

**उत्तर :**—भैया ! वह शुभभाव है; किन्तु आत्माकी पहचानके बिना पहाड़के ऊपर चढ़ गये और मूर्तिके दर्शन कर लिये इससे कहीं धर्म नहीं हो जाता। मूर्तिमें या पहाड़में कहीं आत्माका धर्म नहीं घुसा होता, यह तो मात्र निमित्त हैं और सो भी वह निमित्त तब कहलाते हैं जब कि अपने अक्रिय वीतरागस्वरूपको स्वयं जाने। अपूर्णदशामें

जो राग रह जाता है उस रागका वह निमित्त है। और वास्तवमें तो जीव जब पूर्ण परमात्मस्वरूपको याद करता है तब 'अहो ! यही परमात्मा है' इस प्रकार मूर्तिमें वीतरागकी स्थापना करता है; इस तरह मूर्तिमें भगवानकी जो बुद्धि है वह स्थापनानिक्षेप कहलाता है।

जिसे तत्त्वज्ञान होता है उसे वीतराग सर्वज्ञदेव वगैरहकी पहिचान होती है और वही उनकी सच्ची भक्ति कर सकता है। किन्तु जिसे सर्वज्ञदेवके मूल स्वरूपका ही भान नहीं है वह किसकी स्थापना करेगा ? जिसे अभी वीतराग भगवान द्वारा कहे गये नवतत्त्वोंके नामकी भी खबर नहीं है वह मूल तत्त्वोंका निर्णय कैसे करेगा ?

**(४४) असमानजातीय द्रव्यपर्याय :-**आत्मा और शरीर दोनों असमानजातिके हैं, भिन्न भिन्न वस्तुएँ हैं। उन दोनोंके संयोगसे मनुष्य वगैरह पर्याय कहना सो असमानजाति द्रव्यपर्याय है। शरीर और आत्मा असमानजाति है इसलिये आत्मा शरीरका कुछ नहीं कर सकता और शरीरसे आत्माका कुछ नहीं होता। आत्मा शरीरके आश्रयसे धर्म नहीं कर सकता, क्योंकि दोनोंकी जाति अलग है। आत्मा अरूपी ज्ञातास्वरूप वस्तु है, वह देहादिक रूपी जड़ वस्तुका कुछ भी नहीं कर सकता और न परद्रव्य भी आत्माका कुछ कर सकते हैं।

**(४५) विभाव द्रव्य व्यंजनपर्याय :-**परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाली विकारी व्यंजन अवस्थाको विभाव द्रव्य-व्यंजन पर्याय कहते हैं। यह पर्याय जीव और पुद्गलोंमें ही होती है; शेष चार द्रव्योंकी व्यंजनपर्याय शुद्ध ही होती है।

विभाव=विकारी, द्रव्य=वस्तु, व्यंजनपर्याय=प्रगट अवस्था।

मनुष्य, नारकी और देव इत्यादि आकार है वह जीवकी विभाव व्यंजन पर्याय है और जो स्कन्ध है सो परमाणुकी विभाव व्यंजन पर्याय है।

किसीको मनमें ऐसा हो कि एक घंटेमें तो अनेक बातें आती हैं, इनमेंसे हम कितनी समझे ? उसके लिए कहते हैं कि भाई ! तेरे हित करना है न ? तो हितके लिये मूलभूत सब बात समझनी होगी। जिसके अंतरंगमें जन्म-मरणको दूर करनेके लिए सत्की जिज्ञासा जागृत हो गई है वह घबड़ाता नहीं। इन जीवादि मूल तत्त्वोंका निर्णय किये बिना जन्म-मरणको दूर करनेका उपाय हाथ नहीं लग सकता।

**(४६) स्वभाव व्यंजनपर्याय** :—पर निमित्तके संयोगके बिना प्रदेशत्वगुणकी जो सहज पर्याय होती है उसे स्वभाव व्यंजन पर्याय कहते हैं। जीवकी सिद्ध पर्याय और एक पृथक् परमाणुकी पर्याय यह दोनों स्वभाव व्यंजनपर्याय हैं। शेष चार द्रव्योंमें सदैव स्वभावव्यंजन पर्याय ही है।

**(४७) स्वभाव अर्थपर्याय** :—अगुरुलघु गुणके परिणमनको स्वभावपर्याय अथवा स्वभावअर्थपर्याय कहते हैं। वह सूक्ष्म है। संसारी जीव अपने बहीखातेका हिसाब मिलानेके लिए रात्रिजागरण करके भी रोकड़ बाकीका मेल मिलाता है तो यह तो भगवानके बहीखातेका हिसाब मिलाना है, इसमें तो विशेष उद्यम करना चाहिए। अनाभ्यासके कारण यह बात कठिन व महँगी लगती है किन्तु वास्तवमें महँगी नहीं है। यह तो अपने घरकी चीज है, घरकी चीज मंहगी कैसे कही जा सकती है ? समझनेका उद्यम करना चाहिए। केवलज्ञानादि स्वभाव अर्थपर्याय है।

**(४८) शुद्ध अर्थपर्याय** :—परकी उपाधिसे रहित

प्रदेशत्वगुणके अतिरिक्त गुणकी पर्यायको शुद्ध अर्थपर्याय कहते हैं। केवलज्ञान शुद्ध अर्थपर्याय है।

**(४६) अशुद्ध अर्थपर्याय** :—परकी उपाधिसे जो अवस्था होती है वह अशुद्ध अर्थपर्याय है। राग-द्वेषादि पर्याय अशुद्ध-अर्थपर्याय है।

**(५०) सामान्य गुण** :—जो गुण छहों द्रव्योंमें होता है उसे सामान्यगुण कहतेहैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व इत्यादि सामान्यगुण हैं। वे सब वस्तुओंमें होते हैं।

**(५१) विशेषगुण** :—जो गुण समस्त द्रव्योंमें नहीं होता, किन्तु अमुक खास द्रव्योंमें होता है उसे विशेष गुण कहते हैं। आत्माके ज्ञान-दर्शन इत्यादि गुण हैं, वे अन्य द्रव्योंमें नहीं होते। इसलिए ज्ञान-दर्शन इत्यादि आत्माके विशेष गुण हैं; और वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श परमाणुके विशेष गुण हैं।

इस प्रकार सर्वज्ञ भगवानके द्वारा कहे गये तत्त्वोंमेंसे यहाँ ५१ रकमोंका कथन किया। सर्वज्ञकथित तत्त्वोंका जब तक यथार्थ निर्णय नहीं कर लेता तब तक जीवको सच्चा श्रावकत्व या मुनित्व वगैरह धर्म नहीं हो सकता, वह जैन (-सम्यग्दृष्टि) भी नहीं है। यदि कोई यथार्थ तत्त्वका निर्णय न करे और अपनी कल्पनासे या किसी अज्ञानी गुरुके कहनेसे तत्त्वके स्वरूपको चाहे जैसा (-विपरीत) मान बैठे तो अनादिकालसे तत्त्वनिर्णयमें जो गड़बड़ी है वह बनी रहेगी और यथार्थ तत्त्वनिर्णयके बिना उसका मिथ्यात्व नहीं छूटेगा, और जन्म-मरण नहीं मिटेगा।





भेदसे भी सर्वज्ञके दो प्रकारके गुण होते हैं। उनमेंसे जितने शरीराश्रित गुणोंके द्वारा भगवानका परिचय कराया जाता है और उनकी स्तुति की जाती है वे सब बाह्य गुण हैं, अर्थात् वे केवल कथनमात्र हैं। निश्चयसे शरीरका वर्णादि एक भी गुण आत्मामें नहीं है; और आत्माका एक भी गुण शरीराश्रित नहीं है; आत्माके ज्ञान-दर्शनादिक गुण स्वाश्रित ही हैं, वे अभ्यन्तर गुण हैं। भगवानकी पहिचान समवसरणसे, सुन्दर शरीरसे या दिव्यध्वनि आदिसे कराई जाती है, किन्तु वह सब शरीर, वाणी इत्यादिक वास्तवमें भगवानका स्वरूप नहीं है। जैसे घीका घड़ा यह कहनेमात्रके लिए व्यवहार है, कहीं घड़ा घीका नहीं हुआ करता, इसीप्रकार व्यवहारसे कहा जाता है कि यह भगवानका शुक्ल शरीर है, किन्तु वास्तवमें शुक्ल शरीर भगवानके नहीं होता, भगवान तो आत्मा है।

भगवानके द्वारा कहे गये निश्चय-व्यवहारका स्वरूप भिन्न-भिन्न है और उसका फल भी अलग अलग ही है। व्यवहारके आश्रयका फल संसार है और निश्चयके आश्रयका फल मोक्ष। ('निश्चयनयाश्रित मुनिवरो प्राप्ति करे निर्वाणकी') भगवानके गुणके दो प्रकार और हैं, एक अभ्युदय और दूसरा निःश्रेयस। अभ्युदयका अर्थ है पुण्यका ठाठ और निःश्रेयसका अर्थ है मोक्ष। वास्तवमें भगवानके पुण्य है ही नहीं, वह तो पुण्य-पाप रहित वीतराग हैं। वचनविवक्षासे अर्थात् वचनोंके द्वारा कहे जाने योग्य संख्यातगुण आत्मामें हैं, और वस्तुस्वरूपकी अपेक्षासे अनन्तगुण हैं। किन्तु वचनों द्वारा अनन्तगुण नहीं कहे जा सकते। ज्ञानके द्वारा निर्णयमें आते हैं।

मोक्षमार्गके लिए प्रयोजनभूत तत्त्वोंको यथार्थ निर्णय द्वारा जाने बिना भवभ्रमणका अंत नहीं हो सकता। इसमें बाहरका कुछ करनेकी बात नहीं है, किन्तु अन्तरंगमें सच्ची समझ प्राप्त करने पर



जोर दिया गया है। भाई ! तू बिना समझके क्या करेगा ? घरसे बाहर निकलनेके लिए किस दिशाकी ओर चलना चाहिए, इसकी खबर अन्धे आदमीको नहीं हो, और दिशाको जाने बिना यदि वह यों ही चलदे तो सिर दीवालके साथ टक्कर खायेगा। किन्तु यदि उसे कोई दिशा बतला दे, और वह उसके ध्यानमें बैठ जाय कि ठीक नाककी सीधमें सामने दरवाजा है तो यह जानकर फौरन उसके पैर गति करने लगेंगे और उसकी सारी समस्या हल हो जायगी अर्थात् वह घरसे बाहर निकल जाता है। इसीप्रकार इस संसारसे बाहर कैसे निकला जाय ? बाहर निकलनेका रास्ता कौनसा है ? आत्मा क्या है ? उसका धर्म कहाँ होता है, कैसे होता है ? इत्यादिका यथार्थ निर्णय किये बिना, पुरुषार्थकी गति कहाँ की जाय यही समस्या जीवके मनमें बनी रहती है और संशय रहा करता है कि कौनसा मार्ग होगा ? किन्तु यदि वह सच्चे स्वरूपको जान ले तो उसकी ओर पुरुषार्थकी गति हो और संशय दूर हो जाय; इसलिये सबसे पहले सच्ची समझ प्राप्त करनी चाहिए। यही संसारके घटवाससे बाहर निकलनेका रास्ता है।

इस जीवने अनादिकालसे शरीरके प्रपंचको अपना जान रखा है और यह जाननेवाला स्वयं अपनेको न जानकर परमें अपनापन मान बैठा है। इसने अनादिकालसे अपनी ओर लक्ष नहीं किया इसलिये परमें, देहादिमें देहकी क्रियामें और पुण्य-पापमें वह अपना अस्तित्व मान रहा है किन्तु इन सबसे भिन्न अन्तरंगमें अपना चैतन्यस्वरूप है वह इसे दिखाई नहीं देता। इसलिए बाह्यमें लक्ष करके उसमें सुख-दुःखकी कल्पना कर रहा है और परसे लाभ-हानि मान रहा है, इस प्रकार यह जीव अनादिकालसे संसारमें भ्रमण करता हुआ मिथ्याबुद्धिसे शरीरके प्रपंचको सत्यरूप जानकर उसमें मग्न हुआ प्रवृत्ति कर रहा है। लोगोंमें मान मिलता है तो वह रुचता है,

सेठजी धर्मके नाम पर मन्दिरमें (धर्मध्यानमें) जाते हैं और वहाँ सबसे आगे बिठाये जाते हैं। उस सभामें महाराज सेठजीकी और सेठजी महाराजकी प्रशंसा करते हैं। दोनों 'परस्पर' प्रशंसा करके बडप्पनको पुष्ट करते हैं और उसमें धर्म मानकर संतुष्ट होते हैं। इस प्रकार परस्पर धर्मके बहानेसे बाहरी हा हो हरीफाईमें लग जाते हैं। यह सब उपाय करने पर भी दुःख तो ज्योंका त्यों बना रहता है। विपरीत उपायसे दुःख दूर नहीं हो सकता। दुःखका मूल कारण है अज्ञानजनित इच्छारूपी रोग, और वह अनादिकालसे लगा हुआ है। जीव यह नहीं जानता कि इच्छारूपी रोग क्या है ? और वह कैसे मिट सकता है ? किन्तु वह प्रकारांतरसे ऐसा उपाय किया करता है जिससे इच्छारूपी रोग निरन्तर बढ़ता रहता है। जैसे किसीको मृगीका रोग है किन्तु वह कभी तो अधिक प्रगट दिखता है और कभी कम प्रगट होता है; लेकिन वह रोग अन्तरमें तो बना ही रहता है, क्योंकि निरोग नहीं हुआ है। रोगीको निरन्तर भय बना रहता है। यदि पुण्यका उदय आ जाय और अपने उपायको गलत समझे तो वह सच्चे उपायका निश्चय करनकी जिज्ञासा करे और उस रोगके विशेषज्ञ वैद्यके पास पहुँचे तथा उस पर विश्वास करे कि यही सच्चा वैद्य है, वह मेरा रोग मिटा देगा; और फिर उस वैद्यके कथनानुसार उपचार करे तो रोग मिट जाय।

इसी प्रकार आत्माके साथ राग-द्वेष और अज्ञानरूपी महारोग अपनी भूलके कारण अनादिकालसे लगा हुआ है। यदि यह अभिलाषा जागृत हो जाय कि जन्म-मरणरूपी रोगका मूल कारण अज्ञान है वह कैसे मिटे ? और वह यह जानले कि अकषाय करुणाके भण्डार त्रिलोकीनाथ तीर्थकर भगवान तथा आत्मज्ञानी गुरु परम वैद्य हैं, इनके सेवनसे अवश्य मेरा भवरोग मिट जायगा; तथा

उनके द्वारा कहे गये तत्त्वोंका निर्णय करे और फिर उनके कहे हुए उपायको करे तो रोग दूर हो जाय, दुःख टले और सुखी हो जाय। इसका क्या उपाय है वह आगे कहते हैं।

इच्छा ही रोग है; इच्छा उसीके होती है जिसको कोई दुःख हो, उस दुःखसे छूटनेके लिए उसके इच्छा होती है। इसलिए जो इच्छा करता है वह दुःखी है। इच्छा नामका रोग अनादिकालसे जीवके साथ लगा हुआ है। आत्माके जो पर वस्तुकी इच्छा है सो रोग है। जैसे किसीके मृगीका रोग हो और वह बहुत समयसे गलत उपचार कर करके थक गया हो किन्तु जब वह उस उपायको गलत जानले तब सच्चा उपाय करता है।

प्रश्न :—हमारे उपाय तो सत्य ही हैं, हम सुखके लिए धन प्राप्त करनेका उपाय करते हैं और धन मिलता है तो फिर हमारे उपाय गलत कैसे कहलायेंगे ?

उत्तर :—इच्छाके दुःखको दूर करनेके लिए यह उपाय बिलकुल गलत है। धन मिला कि दूसरी इच्छा आकर खड़ी हो गई। रुपया मिला, बड़प्पन मिला और स्त्री पुत्र मिले, किन्तु जहाँ मरणका समय आया वहाँ जीवनकी इच्छाका दुःख होता है, लेकिन जब आयु ही पूर्ण हो गई तब वहाँ धन इत्यादिक कोई भी सहायक नहीं हो सकता और यह जीव अपनी पहचानके बिना ममतासे मरकर चींटी, कौआ, बन्दर इत्यादिमें जन्म लेता है। देख तो सही तेरा कौनसा उपाय सच्चा है ? परवस्तुकी इच्छा ही रोग है। अपने सुखके लिए परवस्तुकी इच्छा की, इसका अर्थ यह हुआ कि उसने अपनेको शक्तिहीन सुखहीन मान लिया। उसे यह भान नहीं है कि सुख आत्मामें ही है, इसलिए आत्माके अतिरिक्त परवस्तुको ग्रहण

करनेका भावरूपी इच्छाका रोग अनादिकालसे लगा हुआ है। अनन्त उपाय करने पर भी वह रोग अभी तक नहीं मिटा और इच्छाका दुःख तो हो ही रहा है इससे सिद्ध हुआ कि वह उपाय ही गलत है। सुखके लिए परवस्तुकी इच्छा यह सुखका सच्चा उपाय नहीं है।

कंपवायुका रोगी जब यह जान ले कि रोग मिटानेके लिए पूर्वकृत सभी उपाय गलत हैं। मेरा शरीर वायुके रोगसे काँप रहा है और यह भी जान ले कि वायुरोगका अच्छा वैद्य कौन है? जो नाड़ी-विशेषज्ञ हो, रोगीकी शक्ल देख करके ही रोगके स्वरूपको समझ ले, ऐसे वैद्यके पास पहुँचकर उसकी औषधि ले तो वह अच्छा हो जाय। कोई-कोई वैद्य अच्छे विशेषज्ञ होते हैं। एक वैद्य ऐसे निपुण थे कि उनने एक महिला—जो पानीका घड़ा सिर पर रखे हुए चली आ रही था, उसकी सूरतको देखकर ही जान लिया कि इस महिलाको अमुक रोग है, जिससे वह घर नहीं पहुँच पायेगी और अभी रास्तेमें ही मर जायेगी। इसलिए उनने अपने साथीसे कहा कि इसके सिर परसे घड़ा उतार लो। साथी घड़ा उतारनेके लिए आगे ही बढ़ा था कि वह महिला अकस्मात् धरती पर गिर पड़ी और वहीं मर गई। जिसे इस प्रकार स्वाश्रयी ज्ञान हो और जो यह भली भाँति जानता हो कि रोग क्या है? निरोग क्या है? औषधि क्या है? और पथ्य क्या है? वही सच्चा वैद्य है।

यहाँ पर उक्त दृष्टान्तमें भी ऐसे वैद्यको ग्रहण नहीं किया है, जो रोगीके आने पर पुस्तकमें रोगका नाम देखकर उसके रोगको जानने बैठे, किन्तु यहाँ स्वाश्रित जानकर वैद्यसे मतलब है। साथ ही यहाँ पर उस रोगीको लिया है जिसे अपना रोग मालूम हो गया हो और अपने किये गये उपायोंको जो गलत मान रहा हो तथा जिसे वैद्यके प्रति सच्ची श्रद्धा उत्पन्न हो गई हो, और अपने जैसे जिस

रोगीका रोग दूर हो गया है उसके चेहरेको देखकर जिसे उत्साह उत्पन्न हो गया हो कि जैसे इसका रोग दूर हो गया है उसीप्रकार मेरा भी रोग दूर हो जायगा, और जिसे यह भी निश्चय हो गयाहो कि इस वैद्यको भी पहले मेरे जैसा ही वायुका रोग था जिसे मिटाकर वैद्य स्वयं निरोग हुआ है, इसलिए इसके बताये गये उपायसे मेरा भी रोग दूर हो जायगा। इसप्रकार की श्रद्धासे वैद्यके पास आता है उसका रोग अवश्य दूर होता है। बिना वैद्यके रोगका दुःख दूर नहीं होगा। इसलिए रोगको व सच्चे वैद्यको (देव-गुरुको) पहचानना चाहिए।

आत्मा अखण्ड, अकंप, स्थिरस्वरूप है, उस अकंपस्वरूपको भूलकर परवस्तुकी इच्छारूपी कंपवायु हो जाती है, इस आत्माको वह इच्छारूपी वायुरोग अनादिकालसे लगा हुआ है, उस रोगको दूर करनेवाला वैद्य अर्थात् सच्चा गुरु कौन है? वह उसके लक्षणोंसे ठीक ठीक जान लेना चाहिए। क्योंकि 'अज्ञान वैद्य यमके समान' कहा गया है। इसलिए जब तक सच्चे वैद्यका (यहाँ पर वैद्यके स्थान पर देव-गुरु समझना चाहिए) सुयोग न मिले तब तक यही अच्छा है कि औषधि ही न ली जाय। क्योंकि कुवैद्यकी औषधि लेनेसे उलटा दुःख बढ़ जाता है। सच्ची औषधि न मिले, इसलिए कहीं विष नहीं ले लिया जाता। सच्चा उपाय न मिले, इसलिए विपरीत उपाय नहीं किया जाता। इस जीवको जिसका लक्षण आकुलता है ऐसा अज्ञानजनित इच्छा नामका रोग अनादिकालसे सदा बना हुआ है। हाँ, कभी-कभी आकुलता कम हो जाती है तो कभी-कभी बढ़ जाती है, किन्तु अज्ञानजनित इच्छा नामका रोग व दुःख तो सदा एकसा बना ही रहता है।

यदि किसी भव्य (योग्य) जीवको ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमसे और पुरुषार्थ करनेके लिए उद्यत होनेसे यह ज्ञात हो जाय

कि “इन परविषयोंके सेवनसे मुझे शांति नहीं मिली और पंचेन्द्रियके विषयोंमें सुखका अनुभव नहीं हुआ।” तथा वह यह भी जानले कि मेरे अभी तकके उपाय असत्य थे, तब वह सच्चे उपायोंका निश्चय करके यह निर्णय करता है कि मुझे जैसे भी बने वैसे इच्छा नामके रोगको मिटानेके लिए सत्य धर्मका साधन करना चाहिए। मेरा सुख मेरेमें हैं, मेरा सुख बाह्यमें नहीं है, इसलिए बाह्यवस्तुकी इच्छा सुखके लिए व्यर्थ है।

मुझे परसे लाभ होगा यों मानकर जो परद्रव्यकी इच्छा करता है वह अज्ञानजनित इच्छा है, उस इच्छारूपी रोगको मिटानेका उपाय सत्य धर्म है। और वह उपाय उनके द्वारा जाना जा सकता है जिनके पहले इच्छारूपी रोग था और फिर जिनने आत्माकी पहिचान करके तथा सत्यधर्मका साधन करके उस इच्छारूपी रोगका सर्वथा नाश किया हो। जितने भी सिद्ध, केवली-अरहंत हुए हैं उन सबको भी पहले यह रोग था। अज्ञानदशामें वे भी दुःखमें पड़े थे, किन्तु बादमें सच्चे स्वरूपका भान करके और शुद्धोपयोगरूप सत्धर्मका साधन करके वीतराग हो गये, इच्छा रहित हो गये। वे सर्वज्ञ भगवान ही सच्चे वैद्य हैं।

राग, धर्म, सच्ची प्रवृत्ति, सम्यग्ज्ञान और वीतरागदशारूप निरोगता इन सबका प्रारम्भसे अन्ततक सम्पूर्ण ज्ञान सर्वज्ञको ही होता है और वे ही दूसरोंको यह सब बतलाते हैं, इसलिए सर्वज्ञ भगवान ही परम वैद्य है। उनके द्वारा दिखाये गये सम्यक्मार्गका सेवन करना चाहिए।





किया। जिसके स्त्री, कुटुम्ब इत्यादि पर, देव, गुरु, शास्त्रसे भी अधिक प्रेम हो, समझना चाहिए कि वह तीव्र मिथ्यात्वके महारोगमें सड़ रहा है। यदि कोई कहे कि हमें देव-गुरुके प्रति प्रेम तो है किन्तु उधर कुछ उत्साह नहीं होता, सो समझना चाहिए कि उसकी यह बात झूठ है; अरे भाई ! तुझे अपनी स्त्री और बच्चोंके प्रति उत्साह होता है, उनके लिए तन, मन, धन खर्च करता है और उनके लिए अलग रूपया निकालकर रखता है, किन्तु यहाँ तुझे देव-गुरुके प्रति उत्साह नहीं होता, तब क्या इसका यह स्पष्ट अर्थ नहीं है कि तुझे देव-गुरुके प्रति प्रेम नहीं है ? यदि कोई देव-गुरुकी अपेक्षा स्त्री आदिके लिये अधिक उत्साहसे तन, मन, धन खर्च करे और देव-गुरु-धर्मके कार्योंमें निरुत्साह हो तो समझना चाहिए कि वह वीतरागको ठगता है, जिसका अर्थ यह है कि वह स्वयं अपनी आत्माको ही ठगता है। अपनेको वीतरागका सेवक कहलवाता है किन्तु वास्तवमें उसे वीतरागदेवके प्रति रुचि नहीं है, तब उसे शुभ-अशुभ निमित्तका भी विवेक करना नहीं आता तो वह शुद्ध उपादानको कैसे पहचानेगा ? जब तक सच्चे देव और सच्चे गुरुके प्रति उल्लास उत्पन्न नहीं होता तब तक अन्तरंगमें गृहीत मिथ्यात्वका तीव्र पाप बना ही रहता है।

जिसने अनुमानादिके द्वारा भी अपने ज्ञानमें सर्वज्ञका निर्णय नहीं किया हो और वह प्रतिदिन भगवानके दर्शन करनेको जाता हो तो उसको शुभभाव है किन्तु वह वीतरागका परमार्थ सेवक नहीं है। वीतरागका सच्चा सेवक कब बन सकता है ? भगवानका दास कब हो सकता है ? और भगवानके द्वारा कहे गये तत्त्वोंका श्रद्धान कब कर सकता है, तब, जब कि यह जानले कि भगवानने शास्त्रमें क्या



कहा है ? और अनुमानादिसे सर्वज्ञके स्वरूपका सच्चा निश्चय हो गया हो; तीन लोक और तीन काल बदल जाय किन्तु उसका निर्णय न बदले ऐसी दृढ़ श्रद्धा हो गई हो; वही तत्त्वकी परमार्थ श्रद्धा कर सकता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि जिसके तत्त्वस्वरूपका निर्णय है वही वीतरागका सच्चा सेवक है, वही सच्चा जैन है। जिसे सर्वज्ञके सच्चे स्वरूपका निर्णय नहीं हुआ है तथा विशेष साधनका यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ है, वह बिना निर्णयके किसका सेवक बनकर दर्शन करता है ? और किसका जप करता है ? अर्थात् जिसे सर्वज्ञके स्वरूपका निर्णय नहीं है वह वीतरागका सेवक नहीं है। वीतराग सर्वज्ञ परमात्माने जो तत्त्व कहा है उसकी जिसे पहचान नहीं है और जिसे ज्ञानमें निर्णय नहीं हुआ है और जो कहता है कि न जाने सर्वज्ञ कैसे होते होंगे ? हमें जब केवलज्ञान होगा तब सर्वज्ञका निर्णय कर लेंगे, तो समझना चाहिये कि यों कहनेवालेके सर्वज्ञकी श्रद्धा ही नहीं है, उसे तत्त्वका निर्णय ही नहीं हुआ—वह जैन नहीं है, वह सर्वज्ञको ही नहीं पहचानता, आत्माको नहीं पहचानता।

सर्वज्ञदेवने विशेष साधनका अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रिका स्वरूप बताया है; जन्म-मरणको दूर करनेका उपाय बताया है, जिसे सुनकर यह ख्यालमें आ जाता है कि अहो ! सर्वज्ञदेवके सिवाय इस स्वरूपको दूसरा कोई नहीं कह सकता। अरहन्त भगवानका स्वरूप ऐसा ही होता है, ऐसे सर्वज्ञदेवका निर्णय किये बिना किसके दर्शन करता है ?

अनन्त सर्वज्ञने धर्मका एक ही मार्ग कहा है, धर्मका दूसरा मार्ग हो ही नहीं सकता। सर्वज्ञदेवने आत्माका परमार्थ अर्थात् स्वरूपकी शांति उसका सच्चा मार्ग तीनोंकालमें एक ही प्रकारका

बताया है, ऐसे सर्वज्ञका निर्णय किये बिना किसका सेवक बन गया और किसका जप करता है ? जिसका तूं दर्शन करता है और जप करता है उस अरहन्तदेवको तो तूं जानता ही नहीं है तो फिर किसकी भक्ति करता है ?

इसके उत्तरमें कोई कहते हैं कि हमारे बाप-दादा जो मानते आ रहे हैं वह हम भी मानते हैं तथा हमारे माने हुए गुरु जो कहते थे हम वही मानते हैं और हमारी जातिके अग्रगण्य पुरुष तथा हमारा संप्रदाय इन्हीं देवको मानते हैं इसलिए हम भी मानते हैं और हम सर्वज्ञकी पूजा, दर्शन इत्यादि धर्मबुद्धिसे करते हैं तथा अरहन्तदेवको ही देव मानकर उनकी पूजा और जप करते हैं। अरहन्तके सिवाय दूसरे देवको हम नहीं मानते। पांचसौ या हजार वर्षसे हमारे बाप-दादाओंसे जो प्रथा चली आ रही है उसीके अनुसार हम भी चलते हैं और इसी मार्गसे हमें भी मोक्ष मिल जायगा। इस प्रकार कुछ लोग मात्र अपने कुल समुदाय या संप्रदायके आश्रयसे अथवा मूढमतिसे अपनेको धर्मी मान बैठे हैं, किन्तु सर्वज्ञदेवका यथार्थ स्वरूप वे नहीं समझते, वे मात्र नामधारी जैन हैं, अज्ञानी हैं, जैनधर्मके सच्चे रहस्यकी उन्हें पहचान नहीं है।

उनके लिए शास्त्रकार कहते हैं कि सुनो भैया ! अरहन्तदेव तो सच्चे हैं ही; किन्तु जब तक तुम्हारे ज्ञानमें उसकी सत्यता प्रतिभासित नहीं हो जाती तब तक तुम उसके सच्चे सेवक नहीं हो। सर्वज्ञके स्वरूपका निर्णय किये बिना कोई उसका सच्चा सेवक नहीं हो सकता। जैसे तुम अपने कुलधर्मके अनुसार अथवा पंचायतके नियमानुसार अपने देवको धर्मबुद्धिसे मानते हो उसी प्रकार अन्यधर्मावलम्बी भी अपने कुलादिके अनुसार माने गये कुदेवको

धर्मबुद्धिसे पूजते हैं, तब तुममें और उनमें क्या अन्तर रहा ?

अन्यमति सच्चे देवका स्वरूप नहीं जानता, वैसे तू भी यदि सच्चे देवका स्वरूप नहीं जानता, तो अरहंतदेवकी विशेषता तो तेरे जाननेमें न आई। तू अरहंतदेवको मानता है, किन्तु अरहंतदेवकी यथार्थता कैसे है वह तो जानता नहीं, तो अपने सच्चे देवका स्वरूप जाने बिना तेरेमें और अन्यमतीमें कौनसा अन्तर रहा ? संसारमें तो सब कहते हैं कि हमारे देवके समान संसारमें अन्य कोई देव नहीं है, इस प्रकार अन्यमती भी अपने माने हुये देवको सच्चा मानते हैं और तुम भी अपने माने हुए देवको सच्चा देव मानते हो; किन्तु उसके स्वरूपको नहीं जानते हो तब फिर बताओ कि तुममें और उसमें क्या अन्तर है ?

यदि कोई यों कहे कि अरहंतदेव और उनका दिगम्बर जैनधर्म ही सत्य है किन्तु जो बापदादोंसे चला आ रहा है उसे हम कैसे छोड़ें ? तो उसके लिए कहते हैं कि अरे मूर्ख ! तेरे बापदादा निर्धन हो तो फिर तू वह निर्धनताको बदलकर और धनवान होकर बापदादामें फर्क क्यों पैदा करता है ? यहाँ यह क्यों नहीं कहता कि हमारे बापदादाके पास इतना धन था, इसलिए मैं इससे अधिक न रखूँगा। तेरे बापदादा जो धर्म मानते थे, उनसे भी यदि अच्छा और सच्चा धर्म मिलता है और तू उसे नहीं मानता तब समझना चाहिए कि तुझे धर्मकी रुचि ही नहीं है। समयसारकी बात अलौकिक है किन्तु जो पहले देव-गुरु-धर्मके ही स्वरूपको नहीं समझता उसके तो स्थूल मिथ्यात्वका भी त्याग नहीं है; और यदि कोई जीव मात्र देव-गुरुके शुभरागमें ही रुक जाय तो भी उसे आंतरिक स्वरूप समझमें नहीं आ सकता। यहाँ निश्चय-व्यवहारकी बातका मेल

करके मोक्षमार्गी होनेकी बात कही गई है। जैसे दूसरे लोग, बिना समझे ही कार्य किया करते हैं उसीप्रकार यदि तू भी किया करे तो तुझमें और दूसरोंमें कोई फरक ही नहीं कहलाया। सच्चे देव-गुरुके पहचाने बिना तुझमें तथा अन्य धर्मोंमें कोई फरक ही नहीं रहा। इसलिए सर्वज्ञदेवकी पहचान करनी चाहिए।

यहाँ कोई अज्ञानी तर्क करता है कि :-हम तो सच्चे जिनेन्द्र अरहन्तदेवकी सेवा पूजा करते हैं, हमारे देवको केवलज्ञान है, हम उनकी भक्ति करते हैं, हम सच्चे देवको ही मानते हैं, और अन्य धर्मावलम्बी तो मिथ्यादेवको मानते हैं, उनकी पूजादि करते हैं। इस प्रकार उनमें और हममें इतना फरक तो है ही। उसके उत्तरमें कहते हैं कि जैसे दूसरे लोग अपने देवको समझे बिना मानते है, तू अपने देवके सच्चे होने पर भी उन्हें पहचानता नहीं है इसलिए दोनों एकसे ही हुए। उदाहरणके रूपमें जैसे दो अज्ञानी बालकोंमेंसे एकको काँच मिला और दूसरेको हीरा मिला (काँच कुदेवके स्थान पर है और हीरा सच्चेदेवके स्थान पर है), दोनोंने श्रद्धापूर्वक अपने अपने वस्त्रकी गाँठमें उन्हें बांध लिया, किन्तु उन दोनोंमेंसे किसीको भी काँच और हीराकी पहिचान नहीं है। यद्यपि जिसकी गाँठमें हीरा है वह हीरा ही है और जिसकी गाँठमें काँच है वह काँच ही है, किन्तु दोनोंमेंसे किसीको यथार्थ ज्ञान ही नहीं है, इसलिए दोनों समान ही हैं, दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। उसीप्रकार तू सच्चे हीरे जैसे जिनेन्द्रदेवको मानता है किन्तु तुझे उनके स्वरूपकी खबर नहीं है तो तुझमें और दूसरेमें कोई फरक नही है। दूसरे अज्ञानीयोंको कुदेव मिले है और तुझे सच्चेदेव मिले है किन्तु सच्चेदेवकी तुझे परीक्षा नहीं है इसलिए तू और दूसरे सब समान ही हैं।

प्रश्न :—कोई कहता है कि हमें एकदम इस प्रकार क्यों उड़ा रहे हो, हम अनेक वर्षोंसे बराबर परिश्रम करते चले आ रहे हैं, हमारी कुछ भी तो रखो ?

उसके समाधानमें कहते हैं कि भाई ! तूने क्या किया है ? तूने कुलरूढ़िसे प्राप्त सच्चे देवको माना किन्तु सच्चे देवके स्वरूपको नहीं जानता; जब तक सच्चे देवके यथार्थ स्वरूपको नहीं जान लोगे तबतक तुममें और अन्य लोगोंमें वास्तवमें कोई अन्तर नहीं होगा।

अज्ञानी कहता है :—दूसरे धर्मावलम्बी कुदेवको मानते हैं इसलिए उनके गृहीतमिथ्यात्व है और हम सच्चे देवको मानते हैं, उनके दर्शन, पूजन, भक्ति इत्यादि किये बिना कुछ नहीं खाते पीते, इसलिए आप इतना तो कह दीजिये कि हमारा गृहीतमिथ्यात्व छूट गया है। कुदेवोंके प्रति जो आकर्षण था वह छूट गया इसलिए हमारा गृहीतमिथ्यात्व तो छूट गया और हमें उतना तो लाभ हुआ ?

उसका उत्तर :—भाई ! तुम्हें अभी गृहीतमिथ्यात्वके स्वरूपकी ही खबर नहीं है। सर्वज्ञवीतरागदेव, निर्ग्रन्थ गुरु, तथा वीतराग द्वारा कहे गये शास्त्र एवं धर्मका स्वरूप जब बाह्य लक्षणों द्वारा निश्चित किया जाय और उनकी यथार्थता प्रतिभासित हो जाय तथा उनके संबंधमें विपरीतता छूट जाय तभी गृहीत मिथ्यात्व छूटता है। किन्तु बाह्य लक्षणोंके द्वारा देव, गुरु, धर्मको पहिचाने बिना यदि कोई सच्चे देवको भी माने और दूसरेको न माने तो भी इतनेसे उसके गृहीतमिथ्यात्व नहीं छूट जाता; यहाँ तो अभी गृहीतमिथ्यात्वके छोड़नेकी बात है, अगृहीतमिथ्यात्वके छोड़नेकी बात तो गृहीत-मिथ्यात्वके छोड़नेके बाद आती है।

आत्मा परिपूर्ण, निर्मल ज्ञानस्वरूप है, रागका एक अंश भी

मेरे स्वरूपमें सहायक नहीं है, पुण्य करते-करते धर्म नहीं होता, मैं शरीरादिकका कुछ भी नहीं कर सकता, इस प्रकार यदि स्वतंत्र आत्मतत्त्वकी प्रतीति हो जाय तो वह अनन्त संसारके परिभ्रमणको नष्ट कर देनेवाली होती है, अर्थात् वह मुक्तिका कारण होती है। किन्तु वह प्रतीति कब होती है? जब कि पहले सच्चे देव-गुरु-धर्मको पहचानकर, जन्मके बाद देव-गुरु-शास्त्र सम्बन्धी ग्रहण की गई विपरीत मान्यताको छोड़ दे, इसके बाद ही अनादिकालसे चली आई विपरीत मान्यता छूट सकती है। गृहीतमिथ्यात्वके छोटे बिना किसीका भी अगृहीतमिथ्यात्व नहीं छूट सकता।

अरे रे ! यह मनुष्य जीवन और उसमें भी सर्वज्ञका जैन धर्म तथा सर्वज्ञका यह मार्ग मिला, फिर भी अभी तक तू सच्चे देवके स्वरूपको भी न पहचाने तो तेरा उद्धार कैसे होगा? उद्धारका इससे अधिक अच्छा अवसर तुझे कहाँ मिलेगा? पुनः पुनः ऐसा अवसर मिलना दुर्लभ है। इसलिए तू तत्त्वनिर्णयका व सम्यग्दर्शनका प्रयत्न कर।

॥ ६०० ❖ विद्यानंद. ॥

अरे जीव ! थोड़ा सा भी दुःख तुझे असह्य लगता है तब फिर अनन्त तीव्र दुःखोंके कारणरूप मिथ्यात्वका सेवन तू क्यों कर रहा है? यदि घोर संसारदुःखोंसे छूटना चाहता है तो मिथ्यात्वका सेवन छोड़, और वीतराग सर्वज्ञदेवकी व अपने आत्मस्वरूपकी पहचान कर....जिससे परम मोक्षसुखकी तुझे प्राप्ति होगी।

प्रवचन : ६

अरहंत देवका सच्चा सेवक कैसा होता है ?

॥

कोई कहता है कि हम अरहंत भगवानको देवके रूपमें मानते हैं; कृपया यह बतलाईये कि अरहंत भगवानको देवके रूपमें स्वीकार करनेका यथार्थ लक्षण क्या है ?

उसके उत्तरमें कहते हैं कि अरहंत देवका सच्चा सेवक होनेके लिए सर्व प्रथम विपरीत आग्रहका त्याग और यथार्थ देव-गुरुके प्रति सच्ची प्रीति-भक्ति होनी चाहिये। तब यथार्थ व्यवहारशुद्धि हुई कहलायेगी, यह बात सभीके लिए लागू होती है।

सच्चे वीतराग देव, उनके द्वारा कहे गये सच्चे अनेकान्त शास्त्र और निर्ग्रन्थ गुरुको पहिचान कर उनके प्रति जबतक प्रीति उत्पन्न नहीं होती तबतक व्यवहारशुद्धि भी नहीं होती; उसके यथार्थ निमित्त भी नहीं हैं।

प्रश्न :—अरहंत वीतराग परमात्मा किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जो एक समयमें तीनकाल और तीनलोकको जानते हैं और जिसके रत्नत्रयकी परिपूर्ण शुद्धता प्रकाशित हो गई है वह वीतराग सर्वज्ञ अरहंत देव है। यदि कोई ऐसे अरहंतदेवके स्वरूपको बाह्य लक्षणों द्वारा भी जाने बिना माने और कुदेवादिको न माने, तो भी उसके बाह्यशुद्धि हुई नहीं कही जा सकती, क्योंकि जिस देवको वह मानता है उस देवके स्वरूपको तो वह जानता नहीं है।

प्रश्न :—यह कब कहा जायगा कि सच्चे देवकी यथार्थ मान्यता हो गई है ?

उत्तर :—पहले गृहीतमिथ्यात्वदशामें जिस प्रकार अन्य कुदेवादिके लिए तन, मन, धन इत्यादि लगाये रहता था, यदि वीतराग देव-शास्त्र-गुरुके लिए उससे भी अधिक तन-मन-धन अर्पित करनेका उल्लास जागृत नहीं होता तो समझना चाहिए कि वह 'ठग भगत' है। वास्तवमें वह वीतरागका भक्त नहीं है, उसका गृहीतमिथ्यात्व नहीं छूट पाया। अरहंतदेवकी शरणके बिना आत्माको नहीं पहचाना जा सकता।

जिसने शुद्ध आत्मस्वरूपका भान करके स्थिरता द्वारा चार घातिया कर्मोंका नाश करके सर्वज्ञता प्राप्त कर ली है ऐसे अरहंतदेवका भक्त कब कहा जा सकता है? इसकी यह बात है। जबतक बाह्य लक्षणोंसे सच्चे देवको न पहिचाने और कुदेवादिकी मान्यता छोड़कर सच्चे देव-गुरुके प्रति भक्ति और उल्लास न आये तबतक व्यवहारशुद्धि भी नहीं होती और वह व्यवहारसे भी सच्चे देवका भक्त नहीं है—जैन नहीं है।

प्रश्न—आप बारम्बार कहते हैं कि कोई परद्रव्यका कुछ नहीं कर सकता, मात्र निमित्त होता है तब फिर यदि लड़केका पुण्य हो और हम उसके लिए धनादि संग्रह करनेमें निमित्त हों तो इसमें गृहीतमिथ्यात्व कहाँसे आ गया?

उत्तर—भैया ! देव-गुरुकी अपेक्षा यदि स्त्री, कुटुम्ब आदिके प्रति अधिक राग हो जाय तो उसके धर्मका प्रेम नहीं किन्तु संसारका प्रेम है इसलिए उसको गृहीतमिथ्यात्व ही है। स्त्री कुटुम्बके प्रति राग होता है तब कहता है कि मैं निमित्तमात्र था तब फिर भगवानकी भक्ति और शास्त्रप्रभावना आदिमें निमित्त क्यों नहीं हुआ? देव-शास्त्र-गुरुकी प्रभावना इत्यादिके कार्योंमें कंजूसी



करता है, वहाँ उल्लास नहीं होता और लड़केकी शादीके समय कंजूसी नहीं करता, लड़केके विवाहके समय जागरण करता है, चिल्लाते चिल्लाते गला बैठ जाता है। चाहे जो हो किन्तु उल्लासमें कमी नही आने देता; तब तूं ही सोच कि तूं किसका भक्त है ? देव-गुरुकी पहिचानके बिना जीव संसारमें ही रुलेगा। अरहंतदेवकी सच्ची पहिचान और भक्तिके प्रगट हुए बिना जीव संसार समुद्रमें मगरके मुखमें पड़ा है। जब घरमें कोई बुड्ढा-बुड्ढी मर जाते हैं तब जगतमें अपनी प्रतिष्ठाके खातिर कारज (-मृत्यु भोज) करता है-लोगोंको भोजन कराता है, उसमें खूब धन खर्च करता है, संसारमें अपनी नाक (प्रतिष्ठा) रखनेके लिए 'नक्खूखाँ' सब कुछ करता है किन्तु जब वीतराग भगवानकी भक्ति पूजा, धर्म प्रभावना, शास्त्रप्रचार इत्यादिकी बात आती है तब कहता है कि उसमें आरंभ होता है, लेकिन भाई ! पुण्य-पाप अन्दरके शुभाशुभ भाव पर निर्भर होता है कि बाह्य क्रिया पर ? क्या अपने स्त्री पुत्रादिके प्रति राग करनेमें तुझे पाप नहीं लगता ? स्त्री पुत्रादिका पोषण करनेका भाव तो विषैले सर्पको पोषण करनेके बराबर है फिर भी तुझे उनमें उल्लास आता है। और धर्मके पोषणके पुण्यभावमें तुझे उल्लास नहीं आता, तो तूं पापमें ही मग्न है। जो धर्मात्मा होते हैं वे देव-शास्त्र-गुरुकी प्रभावना भक्ति इत्यादि कार्योमें उल्लासके मारे हृदयसे उछल जाते हैं कि अहो ! मेरा अवतार धन्य हो गया, मेरे अन्तरमें त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ भगवान विराजित हैं, मैं सर्वज्ञदेवका भक्त हुआ, देव-शास्त्र-गुरुका दासानुदास हुआ यह मेरा बड़ा भाग्य है। इस प्रकार अपने अंतरंगमें देव-गुरुकी स्थापना करता है और जब अपने आत्मदेव अपनेमें स्थापित कर लेता है तो जन्म-मरणका नाश ही हो जाता है।

मिथ्यात्वकी भूमिकामें सच्चा व्रत, तप नहीं होता, किन्तु वीतरागदेव, गुरु, धर्मकी पहिचान और उनके प्रति बहुमानका शुभराग होता है, वह सुबहकी संध्याके समान है और इसके बिना संसार सम्बन्धी दया, दान, सेवा इत्यादिका शुभराग सायंकालीन संध्याके समान है, जिसके पीछे अंधेरा है। अर्थात् जिसके पीछे प्रकाश होगा वह शुभभाव अल्पकालमें ही अस्त हो जायगा; और वीतरागदेव-गुरु-धर्मके प्रति जो शुभराग है वह प्रातःकालीन संध्याके समान है। उसके पीछे (अर्थात् स्वभावमें उस शुभरागका भी जब इन्कार करता है तब) शुद्धताका प्रकाश होता है। यहाँ लौकिक शुभरागकी बात नहीं है किन्तु भगवानके ऊपर होनेवाले शुभरागकी बात है, वह शुभराग भी मैं नहीं हूँ इस प्रकारका निर्णय हुए बिना जन्म-मरणका अंत नहीं होता। किन्तु साथ ही पहले देव-गुरुके प्रति शुभराग और भक्ति इत्यादिके हुए बिना भी जन्म-मरण दूर नहीं होता।

प्रथम गृहीतमिथ्यात्वके समय जब कुदेव-कुगुरुको मानता था और उनके लिए तन-मन-धन लगाये रहता था उस समय कंजूसी नहीं करता था, वैसे अब सच्चे देव-गुरुको पहिचान कर उनके लिए पहलेसे भी अधिक उत्साहसे तन-मन-धन व्यय करता है तब उसके गृहीतमिथ्यात्वका अर्थात् स्थूल पापका त्याग होता है।

प्रश्न—आपने कहा कि 'पहले कुदेवादिके लिए जो खर्च करते थे उससे अधिक सुदेवादिके लिए खर्च करना चाहिए,' किन्तु यदि हमने आज तक कुदेवादिके लिए भी कुछ नहीं किया हो और अब उसीप्रकार सुदेवादिके लिए भी कुछ न करे तो हमारे लिए गृहीतमिथ्यात्वसे छुट्टी मिल जायगी या नहीं ?

उत्तर—पहले तुमने खर्च नहीं किया था सो ठीक, किन्तु अब

तुम वीतरागदेवको मानते हो या नहीं ? यदि मानते हो तो कुदेवादिको माननेवाले अन्य लोग कुदेवादिके लिए जितना उत्साहपूर्वक खर्च करते हैं यदि तुम सुदेवादिके लिए उससे अधिक उत्साहपूर्वक खर्च नहीं करोगे तो कहना होगा कि तुम्हारा गृहीतमिथ्यात्व नहीं छूटा है। यदि कोई अच्छा अन्य धर्मी होता है तो वह भी अपनी आमदनीका अमुक भाग अपने माने हुए देव इत्यादिके लिए अलग निकाल लेता है और तुझे अपने वीतरागदेव-गुरु-धर्मके लिए उल्लास नहीं होता और उनके लिए तन-मन-धन अर्पित नहीं करता तब तो तू उनसे भी गया बीता है। तुझे तेरे धर्मका उत्साह नहीं; जैनधर्मकी महिमा तूने जानी नहीं।

व्यवहारमें लड़केकी शादी इत्यादिक कार्योंमें धन खर्च करता है, वहाँ तन-मन-वचन और समय सब लगाता है और यहाँ पर देव-गुरुकी भक्ति, प्रभावना इत्यादिके कार्योंमें 'शेखीखोर' केवल मुँहसे बातें करता है, किंतु उत्साहसे प्रवर्तता नहीं है फिर भी अपनेको अरहंतदेवका भक्त कहलवाता है लेकिन वह सच्चा भक्त नहीं है।

भाई ! अर्हन्तदेव, गुरु, धर्मकी सच्ची प्रीति तो तभी कहलायगी जब सच्चे देव, गुरु, धर्मकी भक्ति प्रभावना आदि कार्योंमें संसारसे अधिक भक्ति और उल्लासके साथ लग जाय, अन्यथा उसके गृहीतमिथ्यात्वका त्याग भी नहीं कहा जायगा; और मुक्तिका मार्ग उसको नहीं मिलेगा। मुक्तिका मार्ग दिखानेवालोंके प्रति जिसे भक्ति नहीं उसको मुक्तिका मार्ग कहाँसे मिलेगा ?

जो लौकिक है और जिनमें देवत्वकी कुछ भी योग्यता नहीं है, ऐसे बिलकुल मिथ्यात्वी कुदेवादिको मानता था तथा उनमें तन, मन, धन, बुद्धि और श्रद्धा आदिक अर्पित करता था, एवं अपने माने हुए कुदेवादिके लिए प्रथम दशामें क्रोधादि कषाय भी करता था और

वर्तमानमें तेरी बराबरीके दूसरे लोग हैं (यहाँ मान्यताकी अपेक्षासे समानता नहीं है, किन्तु तन-मन-धन इत्यादिके संयोगकी अपेक्षासे बराबरी है,) वे अपने माने हुए कुदेवादिके लिए राग करते हैं तो अब व्यवहारशुद्धिमें आकर तुझे जिनेश्वर देवाधिदेव अरहंतदेव, निर्ग्रंथ गुरु और सम्यक् शास्त्रोंकी पहचान करते उनके लिये पहलेसे भी अधिक तन-मन-धन श्रद्धा भक्ति और ज्ञान इत्यादिक लगाना चाहिये।

अरहंतका प्राथमिक भक्त भी कैसा होता है—अर्थात् बाह्य जैनी कैसा होता है, इसकी यह बात है। यह तो वीतरागका मार्ग है, इसमें दूसरी बात नहीं चल सकती, इसलिए जो वीतरागमार्गसे विरुद्ध है वह सब छोड़ दे तभी वीतरागका मार्ग समझमें आ सकेगा। अनेकबार कहा जाता है कि—

‘प्रभुका मार्ग है शूरोका, नहि कायरका काम’

सर्वज्ञ परमात्मा जिनेश्वर अरहंतदेवका सेवक होनेके लिए सारे संसारकी दरकार छोड़ देनी होती है, अर्थात् जगतकी परवाह छोड़ देनी होती है। समस्त संसारकी प्रतिकूलता आ जाय तो भी भगवान अरहंतदेवकी श्रद्धा और भक्ति नहीं छोड़ना चाहिए। अपने पुरुषार्थसे संसारकी ओरका अशुभभाव नष्ट करके सच्चे देव और गुरुके प्रति श्रद्धा, भक्ति, पूजा और विनय इत्यादिक शुभभाव हुए बिना गृहीतमिथ्यात्व भी दूर नहीं होता, भगवानके भक्त भगवानको विराजमान करते हुए कहते हैं कि :—

“आवो आवो सीमन्धरनाथ अम घेर आवो रे,  
रूडा भक्तिवत्सल भगवन्त नाथ पधारो रे;  
हुं कई विधि पूजूं नाथ कई विध वन्दू रे,  
मारे आंगणे विदेहीनाथ जोई जोई हरखूं रे.”

वीतरागदेवके प्रति भक्तिसे उल्लसित वीतरागका सच्चा सेवक कहता है कि हे प्रभु ! हे नाथ ! पधारिये.... मेरे अन्तरके आँगनमें विराजिये। आपकी पूजा कैसे करूँ ? समस्त विश्वको भूलकर मेरे असंख्यप्रदेशका कमल बनाकर आपकी पूजा करूँ, या किसप्रकार पूजूँ ? देखो भगवानके प्रति भक्तिका कितना विनय है, भक्तिका कितना उल्लास है ? सर्व प्रथम वीतरागदेव, गुरुकी भक्तिमें सर्वस्व समर्पणता होनी चाहिए इसके बिना वीतरागका भक्त नहीं कहा जा सकता। जो प्रतिकूलतासे डर जाता है वह भगवानका भक्त नहीं है। संसारमें भीड़ कैसी ? अरहंतका भक्त कहीं भीड़ या प्रतिकूलता देखता ही नहीं है, वह तो अरहंतका भक्त हुआ सो हुआ, अब अरहन्तदेव पद लेकरके ही रहेगा। जो अरहन्तदेवका भक्त हुआ वह अरहन्त पद लिये बिना नहीं रहता, वह अरहन्तदेव जैसा होगा ही होगा। ऐसा होता है अरहन्तका भक्त, यही है वीतरागका सेवक, और इसे ही कहते हैं जैन।

जिनेश्वरका भक्त कहता है कि हे जिनेश्वरदेव !

धर्म जिनेश्वर गाऊं रंगसों,

भंग म पडशो हो प्रीत....जिनेश्वर

(उत्तरदायित्वके साथ कहता है कि—)

दूजा मन मन्दिर लाउं नहिं

यह हम कुलवट रीत....जिनेश्वर....धर्म०

हे नाथ ! तेरे गुणोंकी भक्ति करनेके लिए उठा सो उठा, अब हमें विश्वमें कोई नहीं रोक सकता; अब इसमें भंग नहीं होगा। युद्धके लिये कटिबद्ध राजपूतका वीर्य छुपा नहीं रहता, वह अपनी एक मानके खातिर कितना पौरुष दिखलाता है ? तब फिर जिसकी इन्द्र

चक्रवर्ती इत्यादि पूजा करते हैं और जिसके जन्मके समय तीन लोकमें प्रकाश हो जाता है ऐसे तीर्थकर वीतराग प्रभुको साथमें लेकर तथा उन्हें हृदयमें स्थापित करके उनका भक्त बने और कर्मको जीतनेके चले उसके पुरुषार्थकी तो क्या बात ? वह फिर हैं-हैं करने लगे, यह कैसे हो सकता है ? यह तो वीतरागका शासन है, कही पोपाबाईका राज्य नहीं है। एक ओर तो भगवानका भक्त कहलाये और दूसरी ओर वीतराग देव-गुरु-शास्त्रकी प्रभावना आदिके लिये जब तन, मन, धन खर्च करनेकी बात आये तब हैं-हैं करने लगे तो वह वीतरागका भक्त नहीं है।

कई लोग भगवानके पास चाँवलादि चढ़ानेमें पाप मानते हैं, किन्तु वास्तवमें भक्त अन्तरके कैसे उच्चभावसे चाँवलादि चढ़ाते हैं उसे वे नहीं समझते, क्योंकि उनको खुदको भगवानके प्रति भक्तिभाव नहीं है। पुण्य-पाप बाह्य क्रियामें होता है या आंतरिक परिणामों पर आधार रखता है ? आत्माके जैसे परिणाम होते हैं—उन्हींके अनुसार पुण्य-पाप होता है।

अभी यह तो जानता नहीं है कि निश्चय क्या है और व्यवहार क्या है; और व्यवहारशुद्धिके बिना मात्र निश्चयकी बातें करता है, वह अरहन्तका सेवक नहीं कहा जा सकता है। अरहन्तका सेवक होनेके लिए एक बार सभीकी परवाह छोड़नी होगी। जहाँ व्यवहारशुद्धिका तो ठिकाना नहीं है और अपनेको जैन मानता है वह भूलता है। निश्चयस्वरूप आत्माका अजर-अमृत प्याला है। इसको पचानेके लिए सच्चे देव-गुरु-शास्त्रकी अंतरंग भक्तिसे उपासना चाहिए।

जो पहले कुदेवादिको मानता था वह बहुत बड़ा दूषण था, उस दूषणको छोड़कर हर्षपूर्वक जिनेन्द्रदेवकी भक्ति और विनय

करता है तब गृहीतमिथ्यात्व छूटता है। अधिक संपत्तिशालीका बहुमान करना यह कोई गुण नहीं कहलाता, वहाँ तो पैसेकी रुचिका भाव है। धर्मकी रुचिवालेको अधिक धर्मवानका बहुमान आता है।

संसारमें लड़के लड़कीकी सगाई विवाह आदिके लिए कितनी चिन्ता करता है और उसमें कितने उत्साहसे काम करता है ? इसीप्रकार हे भाई ! अरहन्तदेव सर्वज्ञ वीतराग भगवान परम पिता, स्वरूपके अन्नदाता, तीर्थके स्वामी, धर्मनायक, धर्मदाता, धर्मसागर, देवाधिदेवको यदि तू हितवांछक देवके रूपमें स्वीकार करता है तो हर्षपूर्वक आंतरिक उल्लासके साथ उनकी भक्ति पूजा प्रभावना इत्यादि करना चाहिये। ऐसा नहीं कि कोई दूसरा काम करनेको बारबार कहें तब करे, किन्तु अपने आप ही अन्तरंग हर्षपूर्वक धर्मप्रभावनाके काम करना चाहिए, कि अहो यह मेरा धन्य भाग्य है कि मुझे यह कार्य करनेका लाभ मिला है। भला, ऐसा सुअवसर कब मिलता है ? जो सच्चे देव-गुरुकी हर्षपूर्वक भक्ति नहीं करता वह व्यवहारसे भी अरहन्तदेवका सेवक नहीं है अर्थात् वह बाह्य जैन भी नहीं है। जो अरहन्तका सेवक होता है वह धर्मका काम आने पर हर्षके मारे उछल जाता है और कहता है कि—अहो धन्य भाग्य है कि मुझे यह काम मिला। मेरा शरीर, मेरा मन, मेरा राग, मेरी बुद्धि, मेरा वचन और मेरा धन इत्यादि सब भगवान परमेश्वर देवाधिदेवकी प्रभावना भक्तिके लिये काम आये; देव-गुरु-धर्मके लिये हमारा तन, मन, धन उपयोगमें आये तो वह सब सफल है, उसीमें हमारा अहोभाग्य है। इसप्रकार व्यवहारसे जिनदेवादिकका सेवक होकर, विचारपूर्वक व्यवहार सम्यक्त्वके २५ दोषोंको नहीं लगाना चाहिये अर्थात् उन दोषोंका त्याग करना चाहिए। वे २५ दोष निम्नप्रकार हैं :—

(१) **जातिमद**—जातिका अभिमान नहीं करना चाहिये, किन्तु देव-गुरुका बहुमान करना चाहिए कि देव-गुरुसे बढ़कर जगतमें है ही कौन ? मैं तो उनका सेवक हूँ।

(२) **लाभमद**—धन इत्यादिका मद करना सो लाभमद है, लाभका अहंकार नहीं करना चाहिये।

(३) **कुलमद**—‘हमारे कुलकी सात पीढ़ीयोंके सभी मनुष्य बड़े बड़े थे’। इसप्रकार घमण्ड करना सो कुलका मद है। अरहन्तके सेवकके कुलमद नहीं होता किन्तु वह विनयपूर्वक यह विचार करता है कि हमारे देव सर्वज्ञ और वीतराग हैं। हम तो अरहन्तोंके कुलके हैं।

(४) **रूपमद**—शरीरकी सुन्दरता घमण्ड करना सो रूपमद है। रूपका अहंकार न करके यह विचार करे कि शरीरकी सुन्दरता प्रकृतिकी देन है, वह रूप मेरा नहीं है। मेरा रूप तो चैतन्यमय है।

(५) **तपमद**—ज्यादा उपवासादि करके उसका अभिमान करना सो तपमद है। आप उपवासादि करनेसे अपनेको बड़ा समझ लें और बड़े-बड़े ज्ञानीको अपनेसे हीन समझें यह मिथ्यात्वकी तीव्रता है। जो अरहन्तभगवानका भक्त है, उसके ऐसा मद नहीं होता।

(६) **बलमद**—शरीरके बलका अभिमान करना सो बलमद है। ज्ञानीके शरीरबलका मद नहीं होता, वह विचार करता है कि अरे, बल किसका ? यह शरीर आत्माका है ही कब ?

(७) **विद्यामद**—विद्याका अभिमान करना सो विद्याका मद है। अरहन्तदेवका भक्त विद्याओंका अभिमान नहीं करता।



चैतन्यविद्याको ही वह सर्वोत्कृष्ट समझता है।

(८) **अधिकारमद**—किसी प्रकारका लौकिक अधिकार मिलने पर उसका घमण्ड करना सो अधिकारमद है। बड़ा पद मिलना पूर्व पुण्यका फल है। हम प्रधान हैं, हम लक्षाधिपति हैं, हम समाजके मुखिया या अध्यक्ष हैं इस प्रकार पदवियोंका अहंकार नहीं करना चाहिए। आखिरकार त्रिलोकीनाथ अरहन्तदेवके सामने तो तू रंक ही है। अरहन्तदेवकी सौ सौ इन्द्र पूजा करते हैं और उनके चरणोंमें रत्नजड़ित मुकुटमय मस्तकको नमाते हैं, उन मुकुटोंके एक एक रत्नोंकी कीमत पर चक्रवर्तीका राज्य न्योछावर हो सकता है। इन्द्रके सिंहासनके नीचेके पत्थरका मूल्य अरबों रूपयोंसे अधिक होता है, ऐसी ऋद्धिके स्वामी ३२ हजार विमानोंके धनी इन्द्र भी अरहन्तदेवके पास नम्रता, भक्तिभाव और उल्लासपूर्वक बालककी तरह नाचने लगते हैं; और वही इन्द्र जब अपनी इन्द्रसभामें इन्द्रासन पर बैठता है तब हजारों देवोंसे सेवित सिंह जैसा प्रतापी गम्भीर बन जाता है। ऐसे प्रतापी इन्द्र भी जब भगवानकी पूजा करते हुए भक्तिभावसे नाच उठते हैं तब उनके सामने तेरे इस अधिकारकी कीमत ही क्या है? इसलिए अधिकारका मद नहीं करना चाहिए। यहाँ तो अभी बाह्य जैनी कैसे हुआ जाता है इसकी बात है। यदि कोई आत्माको पहिचानकर अंतरंग जैनी बने तब तो वह अपूर्व है।

(९-११) कुगुरु-कुदेव-कुधर्मकी सेवा करना सो मूढ़ता है। जिनेन्द्रदेवके भक्तिके यह तीन मूढ़ताएँ नहीं होती। यहाँ पर किसीसे द्वेषभावकी कोई बात नहीं है किन्तु सत्-असत्का विवेक बताया है।

(१२-१९) शँका-कांक्षा-विचिकित्सा-मूढ़दृष्टि-अनुपगूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना यह आठ दोष हैं; ये दोष

जिनेन्द्रदेवके भक्तके नहीं होते ।

संख्यासे सत्की गिनती नहीं होती किन्तु सत् तो सत्की परीक्षासे सत् है। लौकिक व्यवहारमें भी संख्याकी गणनाकी मुख्यता नहीं है। श्रीकृष्ण एक ही थे वे पद्मनाभके सैन्यके साथ अकेले ही लड़े थे और फिर भी उन्हें हटा दिया था, करोड़ों बकरोंके झुंडके लिए एक सिंह ही काफी है। वहाँ पर कोई यह शंका नहीं करता कि एक ही सिंह इतने सारे बकरोंको कैसे भगा देगा? इसीप्रकार जिनेन्द्रदेवका भक्त अन्यमतकी संख्या देखकर घबड़ाता नहीं कि जिस धर्मको अधिक मनुष्य मानते हैं वह धर्म सच्चा होगा कि जिसे थोड़े लोग मानते हैं वह सच्चा होगा ? वह तो परीक्षा करके सत्यका निश्चय करता है। देव-गुरु अथवा साधर्मियोंके प्रति अरहन्तदेवका भक्त अरुचि नहीं करता किन्तु प्रीतिपूर्वक उनका आदर करता है।

(२०-२५) कुगुरु, कुदेव, कुधर्म और उन तीनोंके सेवक यह छह अनायतन हैं। जिनेश्वरदेवका भक्त इनका आदर नहीं करता।

जो जीव ऊपर कहे गये पच्चीस दोषोंको विचारपूर्वक दूर कर देता है वही जन्म जरा और मरणको मिटानेमें निमित्तभूत जो परम वैद्य त्रिलोकीनाथ तीर्थकरदेव हैं उनका भक्त कहलाता है। यहाँ पर पच्चीस दोषोंका त्याग 'विचारपूर्वक' करनेको कहा गया है। विचारके बिना मात्र कुलपरम्परासे त्याग हो वह सच्चा त्याग नहीं, किन्तु यहाँ पर समझकर विचारपूर्वक उन दोषोंकोदूर करनेकी बात है। पहले सच्चे देव-गुरुकी पहिचान करके इनकी भक्ति, पूजा, प्रभावना करनी चाहिए; उनके लिये तन, मन, धन इत्यादि खर्च करने पर व्यवहारसे अरहन्तदेवका भक्त कहलाता है, तभी उसके स्थूलप मिथ्यात्व छूटता है किन्तु अब तक सूक्ष्म मिथ्यात्व मौजूद है।

खर्च करनेसे लक्ष्मी कम नहीं होती किंतु यदि पुण्य घट जाये तो लक्ष्मीके घटते देर नहीं लगती। जो यह मानते हैं कि खर्च करनेसे लक्ष्मी घट जाती है उन्हें पुण्यका भी भरोसा नहीं है। जब सच्चे देव-शास्त्र और गुरुको पहचान कर उनके लिए तन-मन-धनका हर्षपूर्वक उपयोग करता है तब व्यवहारसे भगवानका भक्त कहलाता है। कुदेवादिका सेवन छूटकर अरहन्तदेवका प्रशस्त शुभराग होने पर गृहीतमिथ्यात्व छूटता है और अंतरस्वभावकी शक्तिके द्वारा शुभरागका भी इन्कार कर दे कि 'यह राग मेरा स्वरूप नहीं है' तो इसप्रकार शुद्ध स्वभावकी श्रद्धा करने पर उसके परमार्थ सम्यक्त्व होता है, और अनादिका अगृहीतमिथ्यात्व छूटता है; तभी वह वास्तवमें जिनेन्द्र भगवानका भक्त होता है, वही जैन है।

प्रश्न—आपने तन, मन और धन खर्च करनेकी बात कही है सो ठीक है किन्तु यदि इन तीनोंमेंसे धनको छोड़कर तन और मन लगाया जाय तो ६६ प्रतिशत लाभ होगा या नहीं ?

उत्तर—एक प्रतिशत भी लाभ नहीं होगा। घरके लड़कोंके लिए क्यों सब कुछ करते फिरते हो ? 'पाँच लाखकी पूंजी है उसे तुझे देनेका भाव तो है किन्तु तुझे एक पाई भी नहीं दूँगा।' इस प्रकार यदि अपने लड़केसे बात की जाय तो वह नहीं चल सकती; इसीप्रकार जिसे देव-गुरुकी सच्ची भक्ति है वह देव-गुरु-धर्मकी प्रभावना, भक्ति इत्यादिका प्रसंग आनेपर हर्षसे कूदने लगता है और कहता है कि अनन्तकालमें मेरे मनके आँगनमें त्रिलोकीनाथ तीर्थकरदेव पधारे हैं। मैं अपने भगवानके लिए सर्वस्व अर्पित कर दूँगा। ऐसी भावना तो एकबार ला। सच्चे देव-गुरुका संयोग मिलना अनन्तकालमें दुर्लभ है। देवपद और राजपद इत्यादि मिलना सुगम

है किन्तु सच्चे देव-गुरुकी प्राप्ति दुर्लभ है।

यह धर्म अपूर्व है, यही करनेयोग्य है, सब कुछ छोड़कर सच्चे देव-गुरु और धर्मकी शरणमें एकबार अर्पित हो जा; जो भगवानका भक्त है वह सुदेव, सुगुरु और सुधर्मके लिए लक्ष्मीका अमुक निश्चित भाग दानमें अवश्य निकालता है, उत्कृष्टरूपसे चतुर्थ भाग निकालता है, मध्यमरूपसे छठ्ठा भाग निकालता है, और जो जघन्य अर्थात् कमसे कम दसवाँ भाग तो अवश्य दानमें लगाता है। संसारमें लड़कों-बच्चोंके लिए क्यों संग्रह करके रख छोड़ते हो ? जिसे देव, गुरु, धर्मकी सच्ची रुचि उत्पन्न हो गई है, उसे तन, मन, धन खर्च करनेकी उमंग हुए बिना नहीं रहती।

अरे भाई ! तुझे अपने इस उत्तम मनुष्यभवका लेखा करना है या नहीं ? यदि तुझे अपने मानवभवको सफल करना हो तो सच्चे देव-गुरु और धर्मको पहचान कर उनकी श्रद्धा कर, उनकी भक्ति और प्रभावना इत्यादिमें तन, मन, धन और ज्ञानको लगा। संसारके व्यवहारमें जब कोई अच्छा महेमान घर आया हो तब उसकी सुविधाका कितना ध्यान रखा जाता है ? उसीप्रकार त्रिलोकीनाथ तीर्थकर भगवान और परमगुरु अनंतकालमें बड़े भाग्यसे तेरे आंगनमें पधारे हैं, उनके प्रति तुझे भक्ति पैदा न हो और यह विचार न आये कि उनकी सुविधा-व्यवस्था भक्ति कैसे करनी चाहिये तो कहना होगा कि तुझे देव-गुरु-धर्मके प्रति सच्ची प्रीति नहीं है।

प्रश्न—आपने ही तो कहा है कि परद्रव्यका परिणमन आत्माके आधीन नहीं है तो हम देव-गुरुका क्या करें ?

उत्तर—यह सच है कि परका परिणमन आत्माके आधीन नहीं है, किन्तु भैया ! यदि तुझे परसम्बन्धी भाव ही पैदा न होता हो तब

तो ठीक है, लेकिन अभी तू वीतराग तो हो नहीं गया जिससे कि तेरे शुभाशुभ भाव ही न हो। तुझे स्त्री, पुत्र सम्बन्धी अशुभराग होता है और विषय कषायके अशुभभाव भी होते हैं किन्तु जब देव-गुरु-धर्म सम्बन्धी शुभभावकी बात होती है तब तू कहता है कि परद्रव्यका परिणामन आत्माके आधीन नहीं है, इसका अर्थ यही हुआ कि तुझे शुभ और अशुभका विवेक ही नहीं है, और जब शुभाशुभका विवेक ही नहीं है तब शुभाशुभ रहत आत्मस्वभावकी पहिचान कहाँसे करेगा ?

“ज्ञानी कहते हैं कि शुभरागसे धर्म नहीं होता इसलिए हमें देव-गुरुकी भक्तिकी ओर कोई उत्साह नहीं होता”—एक ओर तो यों कहता है और दूसरी ओर स्त्री, पुत्र, लक्ष्मी इत्यादिके अशुभरागमें रत रहता है, इसका मतलब यह हुआ कि उस जीवको निमित्तकी परीक्षा करनी नहीं आती, और अपने परिणाममें भी विवेक नहीं है।

यह तो सच ही कहा है कि शुभरागसे धर्म नहीं होता, किन्तु यह कहाँ कहा है कि शुभरागको छोड़कर अशुभराग करो ? जिसे निमित्तकी परीक्षाका भान नहीं है वह अपने उपादानस्वरूपको कैसे पहचानेगा ?

भगवान अरहन्तदेव, गुरु और सत्शास्त्र सत् स्वरूपके समझनेमें निमित्त हैं। भगवान अरहन्तदेवका सच्चा भक्त तन, मन, धनसे सद्भावरूप भक्ति इत्यादिमें प्रवृत्ति करता है, अपनी शक्ति न हो और यदि कोई दूसरा साधर्मी बन्धु देव, गुरु, धर्मकी प्रभावनादि सत्कर्मोंमें प्रवृत्ति करता है तो वह इसकी कोई ईर्ष्या नहीं करता, किन्तु उल्लसित होकर कहता है कि जो मैं चाहता हूँ वह देव-गुरुकी भक्तिका कार्य मेरे बदलेमें मेरा साधर्मी भाई करता है—वह धन्य है।

इस प्रकार वह स्वयं अनुमोदना करता है किंतु दूसरेकी ईर्ष्या नहीं करता। यदि वह ईर्ष्या करता है तो समझना चाहिए कि उसकी देव-गुरुके प्रति सच्ची भक्ति नहीं है, उसके भीतर गृहीत मिथ्यात्वकी शल्य मौजूद है।



श्री पद्मप्रभ मुनिराज नियमसारमें कहते हैं कि-रे जीव ! भवभयके भेदनेवाले यह भगवान जिनेन्द्रदेवके प्रति क्या तुझे भक्ति नहीं है?—यदि नहीं है तो तू भवसमुद्रके बीचमें मगरके मुँहमें पड़ा है।

प्रवचन : ७

सर्वज्ञकी सिद्धि व सच्चे जैनीका कार्य

卐

जिसके आत्माका सर्वज्ञ वीतरागस्वभाव प्रगट हो गया है ऐसे भगवान अरहन्तदेवका भक्त कैसा होता है ? यह बात चलती है। समयसारमें निश्चय भक्तिकी अर्थात् अपने शुद्ध स्वरूपकी भक्तिकी मुख्य बात है और यहाँ इस सत्तास्वरूपमें व्यवहार भक्ति अर्थात् सर्वज्ञदेवकी भक्तिकी बात है। जिसप्रकार दूसरोंको अपने माने हुए कुदेवादिके प्रति प्रेम होता है उनसे भी अधिक प्रेम सच्चे देव-गुरुके प्रति जिन जीवोंको होता है और जो सुदेवादिके लिए हर्ष और उत्साहपूर्वक तन-मन-धन लगाते हैं वे देव-गुरुके प्रति प्रीतिवान कहे जाते हैं, अर्थात् वे व्यवहारसे जिनेन्द्रदेवके भक्त हैं। सर्वज्ञ भगवान और सच्चे गुरु तथा शास्त्रका भक्त होने पर वह तन, मन, वचन और ज्ञान इत्यादिसे उन्हींमें प्रवृत्ति करता है। अभी यहाँ तक आत्माकी श्रद्धा नहीं हो पाई है, किन्तु उन्हें सच्चे निमित्त जो देव-शास्त्र-गुरु हैं उनके प्रति श्रद्धा हो गई है।

पहले सच्चे देव-गुरुको पहचान कर यदि उनके लिये तन, मन, धन अर्पण करनेकी भावना आ जाय और वह कुगुरु-कुदेवादिमें प्रवृत्ति न करे तब गृहीत मिथ्यात्व छूटता है और जब उसे आत्माकी इस प्रकार शुद्ध श्रद्धा उत्पन्न नहीं हो जाती कि 'जैसा सर्वज्ञका स्वभाव है, मेरा भी वैसा ही स्वभाव है, यह राग मेरा स्वरूप नहीं है' तब उसके अनादिकालीन अगृहीतमिथ्यात्व भी छूट जाता है। जो जिनदेवका भक्त होता है वह अन्य कुदेवादिको नहीं मानता; इस

कालमें इस क्षेत्रमें सर्वज्ञका अभाव है ऐसे अभावको तो वह साधता है किंतु मिथ्या सद्भावको नहीं मानता, उसकी अनुमोदना नहीं करता और उसका सहायक नहीं बनता। अमृतके अभावमें विषकी साधना नहीं करता अर्थात् यहाँ पर साक्षात् जिनेन्द्र श्री अरहन्त परमात्माके अभावमें अन्य कुदेवादिमें 'यह मेरे देव होंगे' इस प्रकार अपने मनमें देवत्वकी कल्पना भी नहीं करता। किन्तु उसके सच्चे स्वरूपका ज्ञानमें निर्णय करता है।

प्रश्न :—सच्चे देवको देखे बिना उनका निश्चय कैसे होता है ?

उत्तर :—जैसे कोई आदमी किसी बन्द मकानमें वीणा बजा रहा है, यद्यपि वह आँखोंसे दिखाई नहीं देता किन्तु बाहरका आदमी उसकी वीणा बजानेकी कलापद्धति और स्वर-इत्यादिसे उस पुरुषको देखे बिना ही उसकी कला इत्यादिका निर्णय कर लेता है अथवा गानेवालेकी शैली, स्वर और कला इत्यादिसे गानेवालेके स्वरूपका निश्चय कर लेता है, उसीप्रकार इस शरीररूपी मकानमें जो वाणीरूपी वीणा है उसके द्वारा भीतरके आत्माका सर्वज्ञपदका निश्चय हो सकता है; ऐसा नियम नहीं है कि मनुष्यको अपनी आँखोंसे देखकर ही उसका निर्णय होता है। भले ही श्रोतागण बोलनेवालेकी आत्माको अपनी आँखोंसे न देखें फिर भी वाणीके पूर्वापर अविरोधीपनसे यह निश्चय किया जा सकता है कि यह वाणी सर्वज्ञकी ही है। सर्वज्ञपदके प्रगट होने पर वाणी और आत्मा दोनों स्वतंत्र ही हैं; किन्तु भीतर जो ज्ञानका सर्वज्ञत्व खिल उठा है उसका निमित्तपना वाणीमें भी आता है, इसलिए सर्वज्ञका ज्ञान भी पूर्ण है और वाणीमें भी एक समयमें पूरा कथन आ जाता है; ऐसी वाणी सर्वज्ञदेवको छोड़कर दूसरेके नहीं होती। इसप्रकार वाणीसे सर्वज्ञका निश्चय किया जा सकता है।



### सर्वज्ञसिद्धिका दूसरा प्रकार

आत्मा ज्ञानस्वरूप है; एक आत्मासे दूसरे आत्मामें अधिक ज्ञान होता है और तीसरे आत्मामें उससे भी अधिक ज्ञान देखनेमें आता है, इसप्रकार उत्तरोत्तर ज्ञानकी वृद्धि होते होते किसी जीवके परिपूर्ण ज्ञान प्रगट हो जाता है। जिस जीवके परिपूर्ण ज्ञान प्रगट होता है वह सर्वज्ञ है। (अन्वय)

### सर्वज्ञसिद्धिका तीसरा प्रकार

एक जीवके जितना रागद्वेष होता है उससे दूसरे किसी जीवको और भी थोड़ा होता है तथा तीसरेके उससे भी कम देखनेमें आता है, इसप्रकार कम करते करते अन्तमें किसी जीवके रागद्वेषका सर्वथा अभाव ही होता है। जिस जीवके रागद्वेषका सर्वथा अभाव होता है उसके परिपूर्ण ज्ञान होता है और वह सर्वज्ञ कहलाता है। (व्यतिरेक)

इस प्रकार अपने ज्ञानमें सर्वज्ञके स्वरूपका निश्चय करके जो उन्हें देवके रूपमें पूजता है, उनकी श्रद्धा करता है वह अपनी भक्तिसे भगवानको अपने आंगनमें ले आता है अर्थात् वह स्वयं सत्के आंगनमें पहुँच जाता है।

जो व्यवहारसे भी जिनेन्द्र भगवानका भक्त होता है वह अपने हृदयमें मिथ्याभावको स्थान नहीं देता अर्थात् वह वीतराग देव-शास्त्र-गुरुको छोड़कर कुदेव-कुगुरु आदिकका समर्थन नहीं करता। वाणी द्वारा अथवा अन्य किसी भी प्रकारसे असत्का समर्थन नहीं करता—उसे हृदयमें स्थान नहीं देता। जब वह यह श्रद्धा करले कि सर्वज्ञदेव और कुदेवादि एक समान नहीं हो सकते तब व्यवहारसे सर्वज्ञकी श्रद्धा कहलाती है। सत्यमार्ग एक ही होता है; तीन लोक और तीन कालमें सत्यके दो मार्ग नहीं हो सकते। वीतरागदेवके

अतिरिक्त अन्य देवको सच्चा माननेवाला वीतरागका भक्त नहीं है।

कुछ लोग जैनधर्म और अन्यधर्मोंका समन्वय करना चाहते हैं। किन्तु जैनधर्मका अन्य धर्मोंके साथ कभी भी समन्वय नहीं हो सकता। अमृत और विषका समन्वय कैसा ? वीतरागका सेवक वीतरागदेवके अन्तरंग स्वरूपको या बाह्यरूपको अन्यथा न तो कहता है और न मानता है। वीतरागकी वाणी सहज स्वभावसे निकलती है। भगवानकी वाणी दूसरोंको लाभ करनेकी इच्छासे नहीं खिरा करती, भगवान तो बिलकुल वीतराग हो चुके हैं, उनकी वाणी भी स्वतंत्ररूपसे खिरती है। उनकी वाणीमें वीतरागताका उपदेश है।

अब यहाँ यह कहा जाता है कि वीतरागका सेवक कब कहलाता है और व्यवहारसे जैन कब कहलाता है ? वीतरागका सेवक वीतरागसे विपरीत कहनेवालेकी बात कभी नहीं मानता। जैसे बापको (पिताको) गाली देनेवाला बापका दुश्मन है। अच्छा लड़का उसे मान नहीं दे सकता, इसीप्रकार वीतरागकी बातसे विरुद्ध कहनेवालेकी बातको वीतरागका सेवक कभी नहीं मान सकता। वह जिनदेवकी वीतराग प्रतिमाके रूपको साराग रूप नहीं करता। वीतरागकी प्रतिमाके वस्त्रादिक नहीं हो सकते, माला नहीं हो सकती, मुकुट नहीं हो सकता और शस्त्र आदि राग-द्वेषके अन्य चिह्न भी नहीं हो सकते। जिनदेव तो वीतराग हैं, आनन्दधन हैं। प्रतिमाजीमें उनकी स्थापना की जाती है।

स्थापना दो प्रकारकी होती है, १-सद्भावरूप-स्थापना, २-असद्भावरूप-स्थापना। जिनेन्द्रदेवके अनुसार उनकी मूर्तिमें जिनदेवत्वका आरोप करना सो सद्भावरूप स्थापना है, और पुष्प आदिकमें स्थापना करना सो असद्भावरूप स्थापना है। इन्हें

तदाकार और अतदाकार स्थापना भी कहते हैं। जिनदेवकी प्रतिमामें जिनदेवकी ही स्थापना होती है, इसलिए उस प्रतिमापर कोई श्रृंगार आदिक नहीं हो सकता। वह वीतरागदेवका प्रतिबिम्ब है—निर्ग्रंथ है। इस प्रकार जो व्यवहारसे भी जिनदेवका सेवक है, वह जिनदेवके स्वरूपको अन्यथा नहीं मानता, वह जिन प्रतिमाकी अविनय नहीं करता। यदि कोई जिनदेवकी प्रतिमाका अविनय करता है तो वह उसे सहन नहीं करता और अविनयादिके स्थानसे स्वयं अपनेको बचाता रहता है। क्योंकि जिनप्रतिमाके अविनयमें बड़ा पाप है। इसीप्रकार जिनदेवकी तरह सद्गुरु और सत्शास्त्रोंके सम्बन्धमें भी समझना चाहिए। इतना करने पर वह शुभरागमें आया कहलाता है, उसके गृहीत मिथ्यात्व छूट जाता है और वह बाह्य जैन कहलाता है। और जब वह शुद्ध आनन्दघनस्वरूपकी श्रद्धाके बल पर शुभरागसे भी भेदज्ञान कर लेता है तब वह अन्तरंगसे जैन कहलाता है। मेरा परके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, इतना ही नहीं किन्तु देव-शास्त्र-गुरुकी ओर जो शुभ विकल्प उठते हैं वह भी मेरा स्वरूप नहीं है; मैं अखण्ड ज्ञायक हूँ, मेरे ज्ञायकस्वभावमें रागका अंश भी नहीं है— इस प्रकार आत्मस्वभावकी श्रद्धा करना वह परमार्थ श्रद्धा है। जिसने ऐसी शुद्धात्माकी श्रद्धा की वह वीतरागका सच्चा सेवक हो गया, उसका अनादिकालीन विपरीत मान्यतारूप अगृहीत मिथ्यात्व छूट गया, और वह सच्चा जैन हुआ।

जिनेन्द्रदेवका भक्त अरहन्त भगवानके अतिशयोंके स्वरूपको लोकव्यवहारमें भी अन्यथा नहीं कहता; ऐसा कोई नियम नहीं कि जो भगवानके समवसरणमें जाता है वह वहाँ धर्मको प्राप्त कर ही लेता है। यदि भगवानके पास पहुँचने मात्रसे सब धर्मको प्राप्त करलें तब तो निमित्तसे कार्य हुआ कहलाया, किन्तु ऐसा हो नहीं सकता।

लेकिन, जो जीव वहाँ जाकर स्वयं अपने अंतरंग पुरुषार्थसे धर्मको समझता है यह धर्मको प्राप्त करता है और भगवानसे धर्मप्राप्ति हुई ऐसा निमित्तसे कहा जाता है।

प्रत्येक तत्त्व स्वतंत्र परिपूर्ण है, तू स्वतंत्र है, तुझे परकी आवश्यकता नहीं है; इसप्रकार भगवान प्रत्येक तत्त्वकी स्वतंत्रताकी घोषणा करते हैं। भगवान किसीको तार नहीं देते। यदि भगवान दूसरेको तार सकते हों तो वे समस्त विश्वके सब जीवोंको क्यों नहीं तार देते ? और तब तो संसारके अभावका ही प्रसंग आ जाता। भगवानकी वाणी योग्य जीवको तिरनेके लिए निमित्त है, और वह भी यदि स्वयं यथार्थ समझ ले तो निमित्त कहलाती है; अन्यथा वह निमित्त भी नहीं है।

यदि भगवान किसीको तार सकते होते तो अभी तक अनन्त भगवान हो गये हैं फिर भी आज तक किसीने तुझे क्यों नहीं तारा ? यह बात नहीं है—कि भगवानने नहीं तारा इसलिए तू अभीतक संसारमें चक्कर लगा रहा है, किन्तु सच्ची बात तो यह है कि जैसा भगवानने कहा ऐसे स्वाश्रित स्वभावकी यथार्थ समझके बिना ही अभीतक यह जीव चक्कर लगा रहा है; तत्त्वकी एक भी बातमें उल्टा नहीं चल सकता। यदि एक भी बात उल्टी हो गई तो समस्त तत्त्व ही विपरीत हो जायगा। सत्को समस्त पहलुओंसे बराबर समझना चाहिये। त्रिलोकीनाथ तीर्थकरकी पैढ़ी पर बैठकर उनकी ओरसे बात करनी है कि भगवान ऐसे हैं। यह धर्मका राजमार्ग है, यह त्रिकालिक सनातन धर्मकी जाज्वल्यमान पैढ़ीका स्पष्ट मार्ग है। यह सनातन राजमार्ग अनादिकालसे एक ही प्रकार चला आ रहा है, उसमें कुछ अन्यथा नहीं चल सकता।

कोई कहता है कि भगवानकी मूर्ति तो जड़ है उसको क्यों पूजें ? उसके लिए कहते हैं कि अरे भाई ! अभी तू जड़ चेतनको समझ ही कहाँ पाया है ? जड़ क्या और चेतन क्या इसके स्वरूपको तू नहीं जानता । तेरे शरीर-लक्ष्मी स्त्रीका शरीर आदि भी जड़ ही हैं, फिर भी तू उन पर क्यों राग करता है ? उसमें पाप बन्धता है, आत्मा स्त्री-पुत्रादि नहीं है और तू उनके आत्माको जानता भी नहीं है, केवल इस शरीरमें ही तू स्त्री-पुत्रादिपना मान बैठा है । अरे ! यह शरीर तो जड़ है, फिर भी तू उन पर अशुभराग क्यों करता है ? और जहाँ देवकी बात आती है वहाँ तू कहता है कि मूर्ति तो जड़ है , तब कहना होगा कि तुझे देव-गुरुकी पहिचान नहीं है, और न तू उनका भक्त ही है । ज्ञानके बलसे मूर्तिमें सर्वज्ञदेवकी स्थापना करके 'यह सर्वज्ञ ही है' ऐसा समझ कर धर्मी जीव उसका आदर-पूजन-भक्ति करता है, जिनप्रतिमा जिन सारखी कही गई है; 'कहत बनारसी अल्प भव थिति जाकी; सोई जिनप्रतिमा प्रमानें जिनसारखी' ।

भगवानके भक्तको प्रथम भूमिकामें देव-शास्त्र-गुरुके प्रति शुभराग हुए बिना नहीं रहता । वह जिनदेवकी सच्ची प्रतिमाकी तथा सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्रकी अविनयादि नहीं होने देता, तथा उसके विरुद्ध कुदेवादिका आदर नहीं करता; इस प्रकार जब सच्चे देव, शास्त्र, गुरुको पहचान कर कुदेवादिकी मान्यताका त्याग करता है तब यह कहा जा सकता है कि इस जीवने मिथ्यात्वका त्याग कर दिया है । जो रूपये पैसे आदिकी आशासे वीतराग भगवानकी मान्यता करता है वह भी भगवानका सच्चा भक्त नहीं है । यदि कोई लौकिक आशासे सच्चे देव-गुरुको मानता हो और कुदेवादिको नहीं मानता हो तो भी उसके गृहीत मिथ्यात्व छूटा हुआ नहीं कहा जा

सकता। वीतरागी देव-गुरु तो धर्म समझनेके लिए निमित्त हैं, उसकी जगह यदि कोई लौकिक आशासे उनको मानता है तो उसके मिथ्यात्वका अभाव नहीं होगा; धर्मको समझनेकी बात तो अपूर्व है। अभी तक भगवानका सच्चा भक्त होनेका भी जीवको नहीं आया।

विषय कषाय आदिकी अभिलाषासे रहित सच्चे देवादिके यथार्थ प्रवृत्ति करनेसे गृहीत मिथ्यात्व छूटता है। तुम अपने परिणाममें यह विचार करो कि पहले कुदेवादिके मेरी जो भक्ति थी, उससे भी अधिक भक्ति सच्चे देव-गुरु आदि पर (उन्हें पहचान कर, उनके प्रति) हुई है या नहीं? यदि सच्चे देवादिके प्रति आंतरिक उत्साहसे पहलेसे अधिक भक्ति प्रगट नहीं हुई तो कहना होगा कि उसके देव-गुरुकी सच्ची प्रीति भी प्रगट नहीं हुई। यदि जिनेन्द्रदेवके प्रति आन्तरिक प्रीति प्रगट हुई होगी तो उसका कार्य भी बाहर दिखाई दिये बिना न रहेगा। यदि सच्चे देव, गुरु और धर्मके लिए तन, मन, धन खर्च करनेका उत्साह तेरे मनमें नहीं होता तो समझना चाहिए कि तेरा भविष्य ही खराब है। यदि तेरे अन्तरंगमें सच्चे देव-गुरु और धर्मकी भक्तिका प्रेम नहीं उमड़ता तो तू जो कुछ भी करता है वह मात्र लोगोंको दिखानेके लिए करता है। किन्तु भाई, तू सर्वज्ञके ज्ञानको तो धोखा नहीं दे सकेगा; यह हो सकता है कि तू कदाचित् संसारको धोखा देवे किन्तु सर्वज्ञदेवको धोखा नहीं दे सकता। कहनेका तात्पर्य यह है कि तू तेरे आन्तरिक भावोंसे भिन्न फल प्राप्त नहीं कर सकेगा। तेरे विपरीत भावोंका अनुकूल फल नहीं मिल सकता। सच तो यह है कि कोई दूसरेको धोखा दे ही नहीं सकता किन्तु अपने ही भावको धोखा देता है जो लोभादि कषायकी मंदता भी नहीं करता और मानता है कि मैं धर्म करता हूँ—वह खुद अपने आपको धोखा दे रहा है।

जो पहले कुदेवादिके लिए तन, मन, धनसे उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति करता था वह अब सच्चे देव-गुरुकी पहिचान होने पर उससे अधिक उत्साहसे तन, मन, धन, ज्ञान, काल और क्षेत्र इत्यादिको लगाये बिना नहीं रहेगा। यदि सत्यको समझ ले तो सत्का बहुमान हुए बिना रह ही नहीं सकता। यदि कोई सच्चे देव-गुरु और धर्मके लिए उत्साह पूर्वक तन, मन, धनका खर्च न करे और कहे कि हम सच्चे देव-गुरुको मानते हैं तो समझना चाहिए कि वह कपटी है, उसकी बात गलत है। वास्तवमें देव-गुरुकी महिमा उसने जानी ही नहीं।

प्रश्न—हमने पहलेसे ही कभी कुदेवादिमेंभी प्रीति नहीं की। कभी कुदेवादिके लिए भी हमने कोई खर्च नहीं किया और अब सच्चे देव गुरुके लिए भी हम कोई खर्च नहीं करते, तब फिर हमारे परिणाममें कपट कैसे कहलायेगा ?

उत्तर—लड़का बिमार पड़ा हो तब कुदेवादिकी मान्यता करता है, अथवा औषधि उपचार करता है उसमें यदि कोई कहे कि दो-चार हजार रूपया अमुक दवाके लिए खर्च करने होंगे तो वहाँ किसी भी तरहकी आनाकानी किये बिना प्रेमपूर्वक स्वीकार कर लेता है; क्योंकि पुत्रका प्रेम है; वहाँ तो रूपया खर्चते हुए भी पाप है। और जब यहाँ देव-गुरु-धर्मके प्रभावनादि कार्योंमें तन, मन, धन खर्च करनेकी बात आती है तब बहाने बनाता है कि हमारी शक्ति नहीं, हमारे दूसरे खर्च बहुत हो गये हैं। अथवा ऐसा कुतर्क करता है कि वीतरागको तो कुछ आवश्यकता ही नहीं है, शासनका पुण्य होगा तो शासनकी प्रभावना हो जायगी; किन्तु भैयाजी ! इस प्रकारकी झूठी बहानेबाझी वीतरागमार्गमें नहीं चल सकती। यह तो सच है कि

वीतरागको धनादिकी कुछ आवश्यकता नहीं, किन्तु तू अपने रागको भी तो कम कर, तुझे तृष्णा कम करनेकी किसने मना की है। लोकव्यवहारमें शोभा और मान बढ़ाईके लिए लगनादि प्रसंग पर उत्साहसे तन, मन, धन खर्च करते हो और यहाँ सर्वज्ञ वीतराग देव-गुरु-धर्मकी भक्ति, प्रभावना इत्यादिके लिये तन, मन, धन खर्च करनेका कोई उत्साह ही नहीं होता; तब कहना होगा कि तुम्हें वीतरागदेवकी श्रद्धा ही नहीं है। सिर्फ कहेनेके जैनी हो।

प्रश्न—आरम्भ-परिग्रहके कार्योंका तो भगवानने निषेध किया है ?

उत्तर—व्यापार धन्धेमें या मकान बनानेमें, भोजनादिमें तुझे आरम्भ-परिग्रह नहीं दिखता और देव-गुरु-धर्मके प्रशस्त कार्योंको आरम्भ परिग्रह बताकर तू उसे टालना चाहता है, तुझे आरम्भ परिग्रहका भान ही कब है ? स्वरूपमेंसे निकलकर परभावमें प्रवृत्ति करना ही आरंभ-परिग्रह है। अपने स्वरूपकी विपरीत मान्यतासे रागादि परभावकी पकड़ वही परिग्रह है, और कषायादि विपरीत चारित्र है सो आरम्भ है; स्वरूपका भान हुए बिना आरम्भ-परिग्रहको कैसे रोकेगा ? आरम्भ-परिग्रह बाह्यमें नहीं किन्तु अपने भावमें है। संसारके प्रति जो अशुभ परिणाम है सो तो तीव्र आरम्भ-परिग्रह है, और देव-गुरुके प्रति जो शुभराग है उसमें अल्प आरम्भ-परिग्रह है। प्रथम भूमिकामें देव, गुरु, धर्मके प्रति शुभराग, भक्ति और बहुमान हुए बिना नहीं रह सकता।

वीतरागी देव-गुरु-धर्मके प्रति जो राग है वह प्रातःकालीन अरुणोदयके समान है, जिसके पीछे सूर्यका प्रकाश होगा। अर्थात् स्वभावके बलसे शुभरागको भी दूर करके वह केवलज्ञानरूपी



सूर्यको प्रगट कर लेगा, और संसार सम्बन्धी लौकिक शुभराग (पस्जीवकी दया, दान, इत्यादिके भाव) है वह सायंकालकी संध्याके समान है, जिसके पीछे रात्रिका अन्धकार है, अर्थात् शुभरागको धर्म मानकर संतुष्ट होता है उसका शुभ भी पलटकर थोड़े ही समयमें अशुभ परिणाम हो जायगा, जिससे वह अशुभ गतियोंमें परिभ्रमण करेगा।

प्रश्न—तब क्या हम सब कुछ दे डालें ? हमारे पीछे स्त्री बच्चे आदि भी तो हैं ?

उत्तर—स्त्री-बच्चे हैं सो वे क्या हैं ? यह देव-गुरु सच्चे हैं या स्त्री पुत्रादि ? स्त्री-बच्चे तो संसारके निमित्त हैं और वीतराग देव-गुरु तो मुक्तिके निमित्त हैं। तब तक परम वीतराग देव-गुरु और धर्मके लिए एकबार सर्वस्व समर्पण कर देनेकी भावना नहीं होती तब तक उसके सच्ची भक्ति नहीं कही जा सकती। वर्तमानमें तेरे साथी अपने माने हुए कुगुरु-कुदेवादिकी भक्ति करते हैं, और तू कुदेवादिको नहीं मानता, किन्तु बँगला, मोटर और बागबगीचा इत्यादिके लिये धन खर्च करता है, लेकिन वीतरागदेव, गुरु और धर्मके लिए खर्च करनेका तुझे उत्साह नहीं होता, इससे स्पष्ट है कि तुझे तेरे देव-गुरुकी महत्ता प्रतिभासित नहीं हुई। वीतरागी देव-गुरु बड़े हैं या तेरे बँगला, बाग, बगीचे इत्यादि। जगतके सबसे बड़े तारनहार देवाधिदेव अरहन्त परमात्मा और एकाध भवमें ही मोक्ष जानेवाले परमगुरु व धर्मात्मा जीवोंमें तुझे कोई महत्ता प्रतिभासित हुई है या नहीं ?

वीतरागी देव, गुरुको बड़ा कहा है, इसका अर्थ यह नहीं है कि वे किसीको कोई फल दे देते हैं किन्तु देव-गुरुके आलम्बनसे

तू अपने शुभभाव कर और अपने भावसे फलको प्राप्त कर। भगवान या गुरुके प्रति ऐसा उल्लासभाव धर्मीको सहज ही होता है।

कोई यों कहे कि हमें सत्यको समझनेका समय ही नहीं मिलता ? उसके लिए कहते हैं कि भाई ! तुझे धन, कुटुम्ब इत्यादिकी व्यवस्था करनेका समय मिलता है, धन, कुटुम्ब, मकान, स्त्री, बच्चे, शरीर और इन्द्रियोंके विषय इत्यादिकी सम्हाल करनेके लिए समय मिलता है और उनके लिए तन, मन, धन खर्च करता है और यहाँ वीतराग देव-गुरुकी सेवाके लिए व आत्महितके उद्यमके लिए तुझे समय नहीं मिलता ? यह आश्चर्य है। जिस प्रकार अन्य कार्यमें प्रवृत्ति करता है उसीप्रकार यदि देव-गुरु-धर्मके लिए प्रवृत्ति नहीं करेगा तो तुझे देव-गुरु-धर्मके प्रति रुचि ही नहीं है; जिस प्रकार तू विवाहादि कार्यमें अपने पदके अनुसार प्रवृत्ति करता है, अपनी प्रतिष्ठाके अनुसार खर्च करता है। उसी प्रकार जहाँ-जहाँ देव, शास्त्र और गुरुकी प्रभावना इत्यादिकी अनेक प्रकारसे आवश्यकता हो वहाँ पर भी तू इसीप्रकार उल्लासके साथ प्रवृत्ति करता है या नहीं ? इसमें कही कंजूसी तो नहीं करता ? यह तू अपने परिणामका विचार कर देख। जब तक तुझमें विशेष धर्मवासना नहीं होती अर्थात् आत्मस्वरूपके भानमें सर्व संग त्यागी होकर स्वरूपकी विशेष रमणतारूप चारित्रदशा नहीं होती तब तक विवेकपूर्वक देव, शास्त्र, गुरुके लिये तन, मन, धन लगाया कर। भाई ! जिस प्रकार तू विवाहादि कार्यमें तेरे पदानुसार धन इत्यादि खर्च करता है उसी प्रकार जब तक गृहस्थाश्रममें है तब तक देव-गुरु-धर्मके लिए तेरी शक्तिके अनुसार तन, मन, धन, क्षेत्र, काल, ज्ञान और श्रद्धा इत्यादिका विभाग कर। यह सब तेरा भाव सुधारनेके लिये कहा जा रहा है।

प्रश्न—भगवान धन, क्षेत्र इत्यादिको क्या करेंगे ?

उत्तर—अरे मूर्ख ! तुझे भगवानको कहाँ देना है ? भगवानके लिए कुछ नहीं करना है, किन्तु यह वीतरागताकी रुचि बढ़ाकर तेरी तृष्णा कम करनेके लिए है; तू देव-शास्त्र-गुरुकी प्रभावनाके लिए खर्च कर उसमें तेरी कषायकी मंदताका तुझे लाभ है। यदि तुझे सत्के प्रति रुचि हुई है और धर्मका प्रेम है तो यह देख कि अन्य साधर्मियोंमेंसे किसे किस बातकी प्रतिकूलता है और यह देख जानकर यदि किसीको शास्त्र इत्यादिकी आवश्यकता है तो उसकी पूर्तिके लिए अपने पदके अनुसार हिस्सा दे। यहाँ पर अपनी पूंजीके अनुसार अपने पदके योग्य खर्च करनेको कहा गया है। यदि दस लाखकी पूंजी हो और उसमेंसे सौ दोसौ रूपये खर्च करता है तो वह पदके योग्य नहीं कहा जा सकता। तू जितना देव-शास्त्र-गुरुकी भक्ति प्रभावनामें खर्च करेगा, उतना तेरे पास रहेगा और स्त्री बच्चे आदिके लिए जो संग्रह कर रखा है उसमेंसे एक पाई भी तेरे साथ नहीं रहेगी। हाँ तेरे साथमें रहेगा तेरी ममताका पाप। यदि लोकव्यवहारमें भी विवेक करना आता है तो यहाँ भी विवेक करना चाहिए।

दृष्टांत—एक बुढ़िया थी। उसकी अपने पुत्रवधूके साथ अनबन रहा करती थी और अपनी लड़की पर खूब प्रेम था। एक बार उसके लड़केने अच्छा धन कमाया इसलिए उसने अपनी बुढ़िया माँसे कहाँ कि माँ, मैंने अच्छा धन कमा लिया है इसलिए अब अपनी बहिन और स्त्रीके लिए एक एक हजार रुपयेके गहने बनवाना चाहता हूँ। बुढ़ियाने विचार किया कि लड़कीके लिए जो गहने बनवाये जायेंगे वे तो जब लड़कीकी शादी होगी तब उसके साथ

ही दे देना होगा, इसलिए वे घरमें नहीं रहेंगे, यों विचार करके (यद्यपि पुत्रवधूके साथ उसकी अनबन रहा करती थी, फिर भी) उसने कहा कि—भाई, बहूके लिए एक हजारके बदले देढ़ हजारके गहने भले बनवा दे, किन्तु बहिनके लिए तो सौ दोसौ रूपयेके गहने बस होंगे। यद्यपि बुढ़ियाको तीव्र ममता है, किन्तु यहाँ केवल यही देखना है कि बुढ़ियाने यह विवेक (विचार) कर देखा कि इसमेंसे घरमें कितना रहेगा और बाहर कितना जायगा।

इसीप्रकार सच्चे देव, गुरु और धर्मकी प्रभावनाके कार्योंमें जितना धन खर्च होगा उसके भावका फल तेरे घरमें रहेगा और तूने स्त्री आदिके लिये इकट्ठा कर रखा है वह कही तेरे साथ रहनेवाला नहीं है वह तो पापका कारण होगा; इस प्रकारका विवेक (विचार) करके अपने तन-मन-धनको देव-गुरु-धर्मके लिये यथाशक्ति अर्पण कर। वह बुढ़िया जितना विवेक कर सकी क्या तू इतना भी विवेक नहीं कर सकता ? तू अपने पुरुषार्थसे जितनी तृष्णा कम करेगा उतना ही तेरे घरमें रहेगा। जब तक मुनिपना प्रगट नहीं हो जाता तब तक जो उत्तम गृहस्थ है उसे लक्ष्मीका चतुर्थ भाग, मध्यमको छठ्ठा भाग और जघन्यको दसवाँ भाग देव-गुरु-धर्मकी प्रभावनादि शुभ कार्योंमें अवश्य खर्च करना चाहिए। जब इन्कमटेक्स देना पड़ता है तब वह क्यों देते हो ? इसीप्रकार यहाँ देव, गुरु और धर्मके लिए भी यथा शक्ति तन, मन, धन लगाना चाहिए। यदि तुझे देव-गुरु-धर्मकी भक्ति प्रभावनाका उल्लास पैदा नहीं होता तो कहना होगा कि तुझे धर्मकार्य फीके लगे हैं और इससे तेरा भविष्य ही खराब मालूम होता है।

भाई ! तुझे तो अपना अच्छा करना है न ? जिसे अपना हित

करना हो उसीके लिए यह बात कही जा रही है। जिसे अपनी चिन्ता नहीं है उसके लिए कुछ नहीं कहा जा रहा है। भौरा गुन्जन करता हुआ फूलकी कली पर बैठता है और फूलकी कली खिल उठती है किन्तु जब वह लकड़ पर बैठता है तब कहीं लकड़ नहीं खिल जाता। इसीप्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि हम अध्यात्मरसका गुन्जन कर रहे हैं, जो निकट मुक्तिगामी भव्य जीव होंगे वे अन्तरसे खिल उठेंगे किन्तु जो दीर्घसंसारी जीव होंगे उन्हें यह अध्यात्मरसका उपदेश नहीं रुचेगा।

जगतके प्राणियोंको लोभरूपी कुएँमेंसे निकालनेके लिए श्री पद्मनंदी-पंचविंशतिकामें दानका उपदेश देते हुए कहा है कि जब तक गृहस्थदशामें हो तब तक देव-शास्त्र-गुरुके लिए तन, मन, धन लगाते रहो। पैसा खर्च करते रहो। पैसा खर्च करनेसे कम नहीं होता, किन्तु जब पुण्य कम हो जाता है तब पैसा कम हो जाता है। जो यह मानता है कि पैसा खर्च करनेसे कम हो जायगा उसे पुण्यके प्रति भी श्रद्धा नहीं है। जब तक पुण्य होगा तब तक पैसा नहीं घटेगा, और यदि पुण्य घट गया तो लाख उपाय करने पर पैसा नहीं रहेगा।

यह बात मात्र भाईयोंके लिए ही नहीं किन्तु बहिनोंके लिए भी इसीप्रकार है। उपर्युक्त कथन भाईयों और बहिनोंको एकसा लागू होता है। क्या मात्र पुरुष ही दान कर सकते हैं और स्त्रीयोंको दानादि कार्यमें पैसा खर्च करनेका अधिकार नहीं है? क्या स्त्री, पुरुषका मात्र खिलौना है? स्त्रीको खुश करनेके लिए कहता है कि देख, तेरे लिये गहने बनवाये हैं। जब कि वे गहने उसके हैं तो उन गहनोंको बेचकर दानमें खर्च कर देनेका अधिकार स्त्रीको है या

नहीं ? क्या उसका इतना ही अधिकार है कि वह अच्छी-अच्छी रसोई बनाकर तुझे जिमाया करे ? पैसा खर्च करनेका भी उसका कुछ अधिकार है कि नहीं ? स्त्रीको भी समझना चाहिये कि मैं पुण्य लेकर आई हूँ, मुझे भी सत्कार्यमें धन खर्च करनेका अधिकार है, मतलबके समय तो अर्धाङ्गना-अर्धाङ्गना करते हो तब फिर धन खर्च करनेमें भी मेरा आधा भाग है या नहीं है ?

यदि मैं इच्छानुसार दानादि नहीं कर सकती तो फिर उस आधे भागको मुझे क्या करना है ? क्या मैं उसको पूजूँ ? क्या मैं रसोईघरमें ही अपनी जिन्दगी पूरी करने आई हूँ ? मुझे भी देव-गुरु-धर्मके प्रति भक्ति है, इसलिए मैं भी अपनी इच्छाके अनुसार धन खर्च करूँगी। जब मन्दिरमें भगवानके कलशों आदिकी बोली होती है तब यदि स्त्रियोंको बोली बोलनेकी इच्छा हो जाय तो उन्हें पुरुषोंसे पूछना पड़ता है। देखो तो यह कैसी रीति है ? सच्चे देव, गुरु और धर्मकी पहिचान कर जब उनकी पूजा, भक्ति और प्रभावनादिमें उल्लासपूर्वक तन, मन, धन, ज्ञान और श्रद्धा इत्यादि लगाओगे तब बाह्य जैन बनोगे, तब गृहीत मिथ्यात्व छूटेगा; यह तो अभी स्थूल मिथ्यात्व छूटनेकी, व व्यवहार जैन बननेकी बात कही गई है; विशेष बात आगे कही जायगी।



प्रवचन : ८  
मुक्तिमार्गका पथिक जैनी  
卐

बाह्य जैनी भी कैसा होता है ? इसका वर्णन चलता है। और समयसार गाथा ३१ आदिमें अन्तरंग जैनी कैसे होते हैं यह बात है। जिसने अपने आत्माके स्वभावके बलसे अपनी पूर्णदशारूप परमानन्दस्वरूप सर्वज्ञपद प्रगट कर लिया है, वीतराग जिनदेवको बाह्य लक्षणों द्वारा पहचान कर माननेवाला बाह्य जैनी है और जो सर्वज्ञ जैसे अपने अन्तरंगके वीतरागस्वरूपकी श्रद्धा करता है वह अन्तरंग जैनी है; अन्तरंग श्रद्धावाला जैनी मुक्तिमार्गका पथिक है।

प्रश्न—जो अन्तरंग स्वरूपको मानता है किन्तु बहिरङ्गमें देव-गुरुको नहीं मानता, वह कैसा कहलायेगा ?

उत्तर—बाह्यमें देव-गुरुको न माने और अन्तरंगकी श्रद्धा हो जाय ऐसा नहीं बन सकता। अपनेको अन्तरंग जैनी (सम्यग्दृष्टि) कहलाये और बाह्यमें वीतरागी देव-गुरुके प्रति विनय-भक्ति आदिसे न प्रवर्ते तो वह दम्भी है ऐसा समझना। उसका अन्तरंग जैनीपना भी झूठ ही है।

अपने अन्तरंग स्वरूपका भान करना सो अभ्यन्तर जैनत्व है, उस जैनत्वके प्रगट हुए बिना वीतरागता नहीं आ सकती और अंतरंग जैनत्व प्रगट होनेके साथ जबतक पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं होती तबतक देव-गुरु-धर्मकी भक्ति प्रभावना इत्यादिका शुभराग होता है। यह सर्वज्ञ भगवानका शासन है। एक समयमें तीन काल और तीनलोकको जाननेवाले सर्वज्ञदेव जागृत चैतन्यज्योति हैं और उनके

द्वारा प्रकाशित यह मार्ग है, उसमें अन्यथा कुछ नहीं चल सकता। जो अंतरंग स्वरूपकी श्रद्धा करके अन्तरंग जैनी बनता है उनका तो कहना ही क्या है? वे तो जिनेश्वरदेवके लघुनन्दन ही हो गये। अंतरंग जैनत्व अपूर्व वस्तु है; यहाँ तो बाह्य जैनी भी कब बना जा सकता है यह बात समझाते हैं। बाह्य जैन हुए बिना अन्तरंग जैन नहीं हुआ जा सकता। यदि कोई कुदेवादिको छोड़कर तन, मन, धनसे सच्चे देवादिकी भक्ति नहीं करता तो वह बाह्य जैन भी नहीं है। सच्चे देव, गुरु और धर्मका मिलना अनन्तकालमें भी दुर्लभ है; वे धर्मके निमित्त हैं। पहले सच्चे बाह्य यथार्थ निमित्तोंकी श्रद्धा भक्ति हुये बिना अन्तरंगके उपादान स्वरूपकी श्रद्धा भी नहीं हो सकती।

प्रश्न—आपने अपने एक प्रवचनमें कहा था कि देव-शास्त्र-गुरु किसीको समझा नहीं देते।

उत्तर—हाँ, यह ठीक है; किन्तु यह किसने कहा है कि वे निमित्त भी नहीं हैं? सत्को समझनेके लिए सच्चे देव, गुरु और शास्त्रका ही निमित्त होता है। किन्तु यहाँ यह नहीं भूल जाना चाहिए कि 'निमित्त परका कुछ नहीं करता' और 'सत्में सत् निमित्त आये बिना नहीं रहते,' यदि पहले सच्चे देव, शास्त्र और गुरुको पहचान कर उन्हें निमित्तके रूपमें स्वीकार न करे और कुदेवादिको माने उन्हें तो बाह्य जैनपना भी नहीं हो सकता; उसे वीतरागके प्रति रुचि भी उत्पन्न नहीं हुई है।

“हे नाथ ! हे देव ! तेरी भक्तिके आगे मुझे इन्द्रपद, कामधेनु गाय, चिन्तामणि रत्न, कल्पवृक्ष अथवा चक्रवर्तीका राज्य यह सब सड़े हुए तृणके समान मालूम होता है।” ऐसे भावोंके साथ गणधर और इन्द्र भी अर्हन्तदेवकी भक्ति करते हैं। यद्यपि उन्हें आत्माका



भान है किन्तु अभी पूर्णदशा प्रगट नहीं हुई, इसलिए उनके बीच बीचमें ऐसा शुभराग आ जाता है। वे अन्तरंगमें समझते हैं कि 'यह शुभराग है वह मेरा स्वरूप नहीं है, जब इस शुभरागको दूर करूँगा तब वीतरागता प्रगट होगी।' इसप्रकार देव, गुरु और धर्मके प्रति शुभराग हुए बिना नहीं रहता, किन्तु उस शुभरागसे धर्म नहीं होता। जिन्हें विचक्षण ज्ञान (केवलज्ञान) प्रगट हो चुका है ऐसे त्रिलोकीनाथ और उनके अनुयायीयोंको छोड़कर त्रिकालमें किसीने न तो सत् धर्मको कहा है और न कह सकेगा। जो ऐसे वीतरागदेवकी न तो श्रद्धा करते हैं और न ज्ञान करते हैं तथा जो अपनी क्रियाको भी नहीं सुधारते अर्थात् जो रागकी दिशाको नहीं बदलते वे व्यवहार जैनी भी नहीं हैं।

प्रश्न—यदि आप कहें तो हम दो-चार वस्तुका त्याग करदें, किन्तु हमें जैनमें तो शामिल रखो ?

उत्तर—जो अर्हन्तदेव और निर्ग्रन्थ मुनि-गुरुको नहीं पहचानता और जिसे अन्तरंगसे उनके प्रति भक्तिका उल्लास जागृत नहीं होता तथा जो उनके लिए तन, मन, धन खर्च नहीं करता वह भले ही बाहरमें त्यागी जैसा हो तो भी उसको व्यवहारसे भी जैनत्व नहीं है; मिथ्यात्वके सेवनसे वह अपने निर्मल भावरूपी अनन्ती हरीको चबा जाता है; वह आत्मा स्वयं हरा भरा आनन्दमूर्ति वीतरागस्वरूप है, इस वीतरागस्वरूपकी जो भक्ति नहीं करता, उसके आत्माके आनन्दकी हिंसा होती है, और यही आत्माके हरे भरे स्वरूपकी भावहिंसा है। इस भावहिंसाका फल चतुर्गति भ्रमण है; तुझे इस भावहिंसासे बचना हो तो वीतरागदेवको पहचान और उनके दिखाये आत्मस्वरूपको जान। अरे ! यदि सच्चे देव-गुरुको मानता हो तो यह देख कि तूने

अपनी कमाईका चतुर्थांश, षष्ठम या दशमअंश भी देव-गुरु-धर्मकी प्रभावना इत्यादिके लिए निकाला है या नहीं? जो अपने भावकी क्रियाको भी नहीं सुधारता अर्थात् अशुभ छोड़के शुभमें भी नहीं आता वह वीतरागका भक्त नहीं है।

ध्यान रहे कि यह बात मात्र पुरुषोंके लिए ही लागू होती है ऐसा नहीं है किन्तु स्त्रियोंके लिए भी एकसी लागू होती है। स्त्रीके लिए गहने बनवा दिये जाते हैं किन्तु उस पर उनका अधिकार है या नहीं? स्त्रीको यदि कुछ दानादिमें खर्च करना हो तो वह खर्च कर सकती है या नहीं? बहुत सी स्त्रियोंके पास धन तो होता है किन्तु वह उसे खर्च नहीं कर सकती, मरण तक ज्योंका त्यों पड़ा रहता है; तीव्र लोभी आदमी अपने जीते जी कुछ खर्च नहीं कर सकता।

कोई जीव, देव-गुरु-धर्मके लिए कुछ करनेकी बात आती है तब तो अनेक बहाने निकालता है लेकिन वह बंगला-मोटर, शादी इत्यादिके लिए हजारों रूपये खर्च करता है, वे कहाँसे लाता है? जब धर्मकी बात आती है तब कहता है कि मेरे पास इतना धन खर्च करनेकी गुंजाईश नहीं है, लेकिन लड़केकी शादी इत्यादिके लिए बहुत लम्बा विचार करता है और उत्साहसे खर्च करता है; लेकिन क्या कभी वह उसीप्रकार देव-गुरु-धर्मके लिए भी विचार करता है? उनकी महिमा प्रभावना इत्यादिके लिए कुछ करनेका भाव भी कभी होता है या मात्र लुखी बातें ही करते हो? जिसे देव-शास्त्र-गुरुकी प्रभावना और भक्तिके लिए उल्लास नहीं होता वह वीतरागका भक्त नहीं है। जो वीतरागका भक्त होता है उसे जब देव-शास्त्र-गुरुकी प्रभावनादि कार्योंमें तन, मन, धन लगानेका

सुअवसर प्राप्त होता है तह वह उल्लाससे कूद पड़ता है और कहता है कि “अहो, धन्य है यह सुअवसर, धन्य है यह प्रसंग, धन्य है देव-शास्त्र और गुरु। भला देव-शास्त्र-गुरुके कार्यसे बढ़कर और कौनसा कार्य हो सकता है ? मेरे हाथोंसे देव-गुरु-धर्मकी प्रभावना हुई, मेरा जीवन धन्य हो गया।” इस प्रकार जो तन, मन, धनसे उल्लासपूर्वक देव-शास्त्र-गुरुकी भक्ति नहीं करता उसका जीवन व्यर्थ है।

कोई वीतरागी देव-गुरु-धर्मके लिये तन, मन, धन खर्च नहीं करता और अपने बचावके लिए कहता है कि “भाई, वीतरागका मार्ग तो स्वयं वीतराग द्वारा ही सुशोभित हो रहा है, इसमें मेरा क्या चल सकता है ? शासनका पुण्य अलौकिक है, उसीसे शासन सुशोभित हो रहा है।” उसके उत्तरमें कहते हैं कि तेरे स्त्री पुत्रादि भी पुण्यसे ‘सुशोभित’ हो रहे हैं फिर उनके लिए क्यों मुफ्तमें परिश्रम करता है। वहाँ तो तू उल्लाससे सब कुछ करता है और पाप बांधता है और यहाँ पर कोरी बातें बनाता है। भले, शासन तो उसके पुण्यसे चल ही रहा है; किंतु तु अशुभ रागको छोड़कर शुभराग क्यों नहीं करता ? यदि वीतराग देवको मानते हो तो अशुभरागकी दशाको बदलकर देव-शास्त्र-गुरुके उल्लासपूर्वक तन, मन, धन लगाओ। मात्र कोरी बातोंसे सूखी बातोंसे पाँच अज्ञानी आलसी आदमियोंके साथ सम्बन्ध रखनेके लिए प्रमादी बनकर, बाह्य जैनी बनना चाहते हो, किन्तु अन्तरंग भावोंके बिना यथार्थ फल नहीं मिलेगा और जब यह अवसर (मनुष्यदेह) चला जायगा, तब तू ही पश्चाताप करेगा।

पहले गृहीतमिथ्यात्वकी दशामें विपरीत मान्यताके कारण कुदेवादिमें तन, मन, धन लगाये रहते थे और जब सच्चे देव-गुरु-

धर्मके लिए उससे अधिक खर्च नहीं करते, तब क्या यह माना जाय कि जैनमतमें आनेसे तुम्हारी शक्ति उल्टी कम हो गई है ? अथवा कपटमात्रसे मात्र लोगोंको दिखानेके लिये जैनी हुए हो, या तुम्हें त्रिलोकीनाथ परमात्मा अर्हन्तदेवकी सत्यता और महत्ता प्रतिभासित नहीं हुई है ? अथवा यों माना जाय कि तुम्हें देव-गुरु-धर्मकी भक्तिका कोई फल दिखाई नहीं देता। इतने प्रकार बता दिये हैं, इनमेंसे कहीं न कहीं तुम्हारा मन जरूर अटक रहा है, अन्यथा देव-गुरु-धर्मकी भक्ति और उनके प्रति बहुमान हुए बिना नहीं रह सकता। सच्चे देव, शास्त्र और गुरुकी भक्तिमें सत्के निमित्तोंका बहुमान है, उसमें उच्च शुभभावका फल महान है। सांसारिक पाप कार्योंका फल तो अशुभ है। सच्चे देव-गुरुकी भक्तिका शुभफल मिले बिना नहीं रहता।

मालूम होता है कि तुम्हें सर्वज्ञदेवका यथार्थ रहस्य ज्ञात नहीं हुआ है, अतएव उल्लासपूर्वक भक्ति इत्यादिमें तन, मन, धन नहीं लगाते। यदि तुम्हें सर्वज्ञदेवकी वास्तविक सच्चाई प्रतिभासित हो गई होती तो तुम्हें उस ओर स्वयं उत्साह क्यों नहीं होता ? “अहो हमारा अवतार धन्य है कि हमें ऐसे सर्वोत्कृष्ट देव-गुरु-धर्मकी भक्ति-प्रभावनाका प्रसंग प्राप्त हुआ, यह तो हमारा ही कार्य है, धन्य, धन्य। हमारा यह धन्य भाग्य है कि हमारे हाथोंमें यह कार्य आया है।” इसप्रकार तुम स्वयं उत्साहरूप प्रवृत्ति क्यों नहीं करते ? यदि देव-गुरुके प्रति सच्ची प्रीति उत्पन्न हो गई हो तो उस कार्यमें उत्साहपूर्वक तन, मन, धन, काल और ज्ञान इत्यादि लगाना चाहिये।

यदि तुम्हें सत्की रुचि हुई है तो, ‘यदि सत्की विशेष प्रसिद्धि हो तो जगतके जीवोंको सत्का लाभ मिले’ इस प्रकारकी भावनासे

तुम यथार्थरीत्या सुखरूप देव-गुरु-धर्मकी प्रभावनादिके कार्यमें प्रवृत्ति क्यों नहीं करते हो ? हम तो कहेंगे कि तुम्हें देवकी यथार्थता ही ज्ञात नहीं हुई। यहाँ पर प्रभावना इत्यादिमें सुखरूप (अपने हर्षपूर्वक) प्रवृत्ति करनेको कहा है, किसीके कहनेसे, कानूनसे, जातिके रिवाजसे या लोकभयसे प्रवृत्ति करनेकी बात नहीं है। किन्तु स्वयं ही भक्तिसे देव-गुरु-धर्मकी प्रभावना इत्यादिमें उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति करनी चाहिये।

जिस प्रकार रोगीको दवा करना नहीं रुचता तो समझना चाहिए कि उसका मरण निकट है, उसीप्रकार तुम्हें देव-गुरु-धर्मके लिए उल्लास नहीं होता तो समझना चाहिए कि तुम्हारा भविष्य बुरा है। जो देव-गुरु-धर्मके लिये लोभ करता है उसके समान कपटी कोई दूसरा नहीं है। वीतरागदेवने जिसे स्वीकार कर लिया है कि “यह प्राणी योग्य है” उसके समान उत्तम और दूसरा कौन हो सकता है ? और वीतरागकी वाणीमें जिसका अस्वीकार किया गया कि “यह प्राणी योग्य नहीं” तो उसके समान हलका और कौन होगा ?

जैसे कोई स्त्री अज्ञानसे पर पुरुषको अपना पति मानकर उसकी सेवा-भक्ति किया करती थी, उसे अच्छे अच्छे भोजन जिमाया करती थी, किन्तु जब बहुत समयके बाद भाग्योदयसे उसे अपना सच्चा पति मिला और उसको पहचाना तब, वह स्त्री पहले जो उत्साह परपुरुषके लिये रखती थी वह अपने सच्चे पतिके लिए शक्य होने पर भी नहीं करती, उसके साथ प्रेम और उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति नहीं करती तो निश्चयतः वह कुलटा ही है, उसे अपने सच्चे पतिके प्रति प्रेम ही नहीं है, इसीप्रकार तुम भी प्रथम तीव्र अज्ञानसे मिथ्यादेव और कुगुरुको सच्चा मानके उसके लिए रसपूर्वक प्रवृत्ति करते थे और अब बहुत

बड़े सौभाग्यसे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु मिले हैं-सच्चे स्वामी जिनदेवकी प्राप्ति हुई है कि जिनसे सुख मिलता है और जन्म-मरणका दुःख दूर होता है, उनकी प्राप्ति होने पर भी तुम भी पहलेकी तरह तन, मन, धनसे भक्ति इत्यादिमें प्रवृत्ति नहीं करते हो तो तुम भी कुलटा स्त्रीके समान हो। उस कुलटा स्त्रीके समान ही तुममें भी महामिथ्यापन भरा हुआ है। अपनेको धर्मात्मा कहलवाता है, वीतरागका सेवक कहलवाता है किन्तु वीतरागदेवके कार्योंमें सहर्ष प्रवृत्ति नहीं करता, यह बड़े आश्चर्यकी बात है। तेरा बड़ा कपट है।

ग्रन्थकार कहते हैं कि भाई ! तुम्हीं विचार कर देखो कि यह दोष तुममें है या नहीं ? हम तुम पर जबर्दस्ती दोषारोपण नहीं करते, किन्तु यदि तुम्हारे अन्तरंगमें इसी प्रकारकी प्रवृत्ति बनी रही तो वह दोष तुम्हारे घरमें स्वयं दौड़कर आयगा।

कुगुरु-कुदेवको छोड़कर सच्चे देव और सच्चे गुरुके प्रति यथार्थ रसरूप हर्षपूर्वक कार्य करेगा तभी धर्मीपन आयगा। मात्र कोरी बातोंसे धर्मीपन नहीं आता। पहले सच्चे देव-गुरुकी भक्ति, बहुमान, विनय यह सब भले हो किन्तु कुछ लोग तो उसीमें धर्म मानकर अटके पड़े हैं वे यथार्थ वस्तुको नहीं समझते; और कुछ लोगोंने जिनदेवकी प्रतिमा भक्ति पूजन इत्यादिका जड़मूलसे ही निषेध कर दिया है, वे भी वास्तविक तत्त्वको समझ नहीं पाये। पहले कुदेव, कुगुरुकी मान्यताको छोड़कर सच्चे देव-गुरु-धर्मको माननेसे अशुभभाव कम होकर शुभभाव बढ़ जाता है और धर्मका-वीतरागमार्गका उत्साह बढ़ता है। देव-गुरु-शास्त्रकी भक्ति आदिके शुभ परिणामसे शुभ फल मिलता है; जो सच्चे देव-शास्त्र-गुरुको मानता है उसके पूर्वकृत पाप भी कम हो जाता है और पुण्य बढ़

जाता है; उन दोनोंसे रहित आत्मस्वरूपकी पहिचान करना सो वर्तमान अपूर्व धर्म है।

यह खास ध्यानमें रखना चाहिए कि पुण्य-पाप तथा धर्म वह कैसेसे नहीं होता। पैसा जड़ वस्तु है, उससे आत्माका धर्म तो हो ही नहीं सकता। कैसेसे न तो पुण्य होता है और न पाप ही। कैसेका आना जाना जड़की क्रिया है, वह स्वयं जड़ है, उसका कर्ता जड़ है, आत्मा उसका कर्ता नहीं है, और आत्माको उस जड़की क्रियाका फल भी नहीं होता। जड़से भिन्न और पुण्य-पापके विकारसे भी रहित चैतन्यस्वभावकी सच्ची पहिचानके साथ श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरताका होना सो धर्म है। रूपये कैसेकी तरफ तीव्र तृष्णारूप जो पापभाव होता है उसे कम करके यदि तृष्णाको कम किया जाय और देव-गुरु-धर्मकी प्रभावना आदि कार्योमें उपयोग लगावे तो उस भावसे पुण्य होता है। जीव अशुभभावको छोड़कर जब तृष्णाको कम करनेका भाव करता है तब धन इत्यादिका लोभ मन्द होने पर धन आदिक खर्च होता है, इसप्रकार लगभग निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होता है, और यदि रूपये कैसे पर तीव्र तृष्णा करे तो उस भावसे पाप होता है; इसप्रकार आत्माके परिणामसे ही धर्म अथवा पुण्य-पाप होता है। धर्म आत्माकी शुद्ध क्रिया है, और पुण्य-पापके भाव आत्माकी अशुद्ध क्रिया है, तथा कैसे इत्यादिका आना जाना जड़की क्रिया है; आत्माकी क्रियाका कर्ता आत्मा है, और जड़की क्रियाका कर्ता जड़ है। आत्मा और जड़ दोनों पृथक् पदार्थ हैं, वे एक दूसरेका कुछ नहीं कर सकते।

इस प्रकार जड़ और चेतन दोनों पदार्थ भिन्न भिन्न हैं तथा उनके कार्य भी अलग अलग हैं, इतना समझ लेनेके बाद जीव अपने

परिणामकी ओर देखता है; अपने परिणाममें पापभावसे बचनेके लिए पुण्यभाव आता है, वह पुण्यभाव भी विकार है और उस विकारसे रहित अविकारी भाव अर्थात् आत्मस्वरूपकी यथार्थ समझरूप जो भाव है वही धर्म है, इसप्रकार धर्म और पुण्यके बीचमें जो अन्तर है उसे समझना चाहिए। धर्मका उपाय यथार्थ समझका होना ही है। पुण्यधर्मका उपाय नहीं है क्योंकि पुण्य विकार है और धर्म अविकारी है। विकारके करते करते अविकारीपन कभी नहीं हो सकता।

पहले संसारसम्बन्धी अशुभभावको बदलकर और सच्चे देव-गुरु-धर्मको पहचानकर जब जीव उस ओरका शुभभाव करता है तब गृहीतमिथ्यात्वसे छूटता है, किन्तु सत्देव, गुरु और धर्मकी ओर जो शुभराग होता है उससे धर्म नहीं हो जाता। देव-गुरु-धर्मको बाह्यसे पहचानकर इस जीवने गृहीतमिथ्यात्व अनन्तबार छोड़ा फिर भी अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको नहीं समझ पाया, और इस सूक्ष्म मिथ्यामान्यताको नहीं छोड़ा कि पुण्यसे धर्म होता है, इसलिए उसे यथार्थ धर्म प्राप्त नहीं हुआ और वह अनन्त संसारमें चक्कर लगाता रहा। पहले देव, गुरुको पहचानकर देव-गुरुसे भिन्न तथा उनकी ओर जो शुभभाव है उससे भी यथार्थतः पृथक् ऐसे निज आत्माको पहचानकर उसकी श्रद्धा और स्थिरता करना सो धर्म है; ऐसा करनेवाला जैनी मुक्तिमार्गका पथिक है, उसीसे अनन्त संसारका नाश होकर अविनाशी सुखकी प्राप्ति होती है। यही है मुक्तिका मार्ग।

वंदन हो मुक्तिके मार्ग दिखानेवाले सन्तोंको







અનુભૂતિ તીર્થ મહાન, સ્વર્ણપુરી સોદે  
યહ કહાનગુરુ વરદાન, મંગલ મુક્તિ મિલે.

